पुष्टि-प्रवाह-मर्यादाभेदः

।।श्रीकृष्णाय नमः।।

।।श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।।

ग्रन्थ-परिचय

कुछ विद्वानोंकी धारणा है कि प्रारम्भमें श्रीमहाप्रभु दैवी तथा आसुरी जीवोंके भिन्न-भिन्न होनेके गीताप्रतिपादित सिद्धान्तको तो मान्य करते थे पर दैवी जीवोंके अवान्तर भेदद्व पुष्टिजीव और मर्यादाजीवके भिन्न-भिन्न होनेका सिद्धान्त श्रीमहाप्रभुने अपनी वयके उत्तरार्धमें स्थापित किया था. अतएव पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थका रचनाकाल श्रीमहाप्रभुके अडैलमें स्थिर निवासके समयके आसपास निर्धारित किया जाता है.

इस विषयमें यह दृष्टव्य है कि निबन्धका शास्त्रार्थप्रकरण श्रीमहाप्रभुकी प्रथम रचना है यह तो प्रायः सर्वमान्य है. इस ग्रन्थकी कारिका ४५-५२का अवलोकन करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि निबन्धके रचनाकालमें भी पुष्टिजीव, मर्यादाजीव और प्रवाहजीवों के भिन्न-भिन्न होनेकी धारणा श्रीमहाप्रभुकी दार्शनिक मान्यताओंमे स्थान ले चुकी थी. एतदर्थ कुछ शब्दप्रयोगोंपर लक्ष्यपात अपेक्षित है.

यथा:

१.तत्वसृष्टिप्रवृत्तानां दैवानां मुक्तियोग्यता. (का. ४६)

२.ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानाम् आत्मनैव सुखप्रमा, सङ्घातस्य विलीनत्वाद् भक्तानां तु विशेषतः, सर्वेन्द्रियैस्तथाचान्तःकरणैरात्मनापि हि, ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृहएव विशिष्यते. (का. ५०-५१)

३.तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित् कस्यचिद् भवेत्, कृष्णप्रसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चयः. (का. ४७)

यहां स्पष्टतया मुक्तियोग्य जीवोंमेसे किसीको ब्रह्मानन्द और किसीको भजनानन्द मिलता है यह निश्चित हुवा है. मर्यादाविधिके अनुसार तीर्थ आदिद्वारा जिन्हें मुक्ति मिलती है वह भी कृष्णकी मुक्तिदानकी इच्छापर अवलम्बित है यह भी कहा गया है. इन कारिकाओंपर लिखे गये प्रकाशके अध्ययन करनेपर भी मर्यादाजीवों और पुष्टिजीवों के प्रभेदकी धारणा स्फुट हो जाती है. यथा ''ये सात्विकाः दैव्यां सम्पदि जाताः विध्युपजीविनः सर्वदा तेषां मुक्तिः भविष्यति'' (प्रका. ४६) तथा ''स्वतन्त्रभक्तानां तु गोपिकादितुल्यानां सर्वेन्द्रियैः तथा अन्तःकरणैः स्वरूपेण च आनन्दानुभवः, अतः भक्तानां जीवन्मुक्त्यपेक्षया भगवत्कृपासहितगृहाश्रमएव विशिष्यते'' (प्रका. ५०-५१).

इन उद्धरणोंसे यह सिद्ध हो जाता है कि दैवीजीव तथा आसुरीजीव का भेद और इसी तरह विध्युपजीवी मर्यादाजीव तथा स्वतन्त्र पुष्टिजीवका अवान्तर प्रभेद भी श्रीमहाप्रभुको निबन्धमें भी विवक्षित है ही. ऐसी स्थितिमें इस पूर्वोक्त

आधारपर ग्रन्थका रचनाकाल निर्णीत कर पाना कठिन है. यह ग्रन्थ किस अवसरपर तथा किस अनुयायीकेलिये लिखा गया था यह पता नहीं चलता. इसके अलावा यह ग्रन्थ पूर्णतया उपलब्ध नहीं होता है यह ग्रन्थके प्रारम्भमें की गयी प्रतिज्ञासे स्पष्ट हो जाता है. विभिन्न व्याख्याकार भी इस बातका उल्लेख करते हैं.

सर्गभेद-कारणभेद, फलभेद, मार्ग या साधनभेद तथा जीवोंके स्वरूपादिभेदके आधारपर पुष्टिमार्ग मर्यादामार्ग तथा प्रवाहमार्ग परस्पर भिन्न-भिन्न हैं यह श्रीमहाप्रभु इस ग्रन्थके द्वारा हमें समझाना चाहते हैं. उपलब्ध ग्रन्थके पूर्ण न होनेके कारण यह कह पाना अब कठिन है कि इदमित्थन्तया श्रीमहाप्रभुने किस प्रकारसे पूर्वोक्त मार्गोंका पृथक्करण विश्लेषण एवम् वर्गीकरण किया था. उपलब्ध अंशके अध्ययनसे तीन तरहकी सम्भावनायें प्रकट होती हैं. यह सब समानन्यायकी सामान्य युक्तिपर की गयी सम्भावनायें हैं, जिनका तुलनात्मक प्रामाण्य अन्य ग्रन्थोमें श्रीमहाप्रभुके द्वारा इस विषयके बारेमें किये गये विधानोंके साथ संवादपर अवलम्बित है.

१. प्रथम सम्भावित वर्गीकरण:

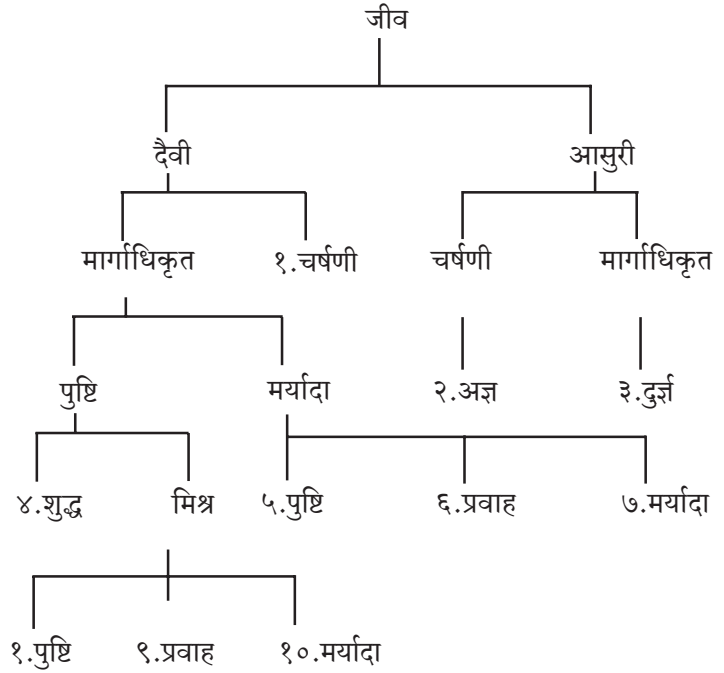

कुल: १०

२. द्वितीय सम्भावित वर्गीकरण:

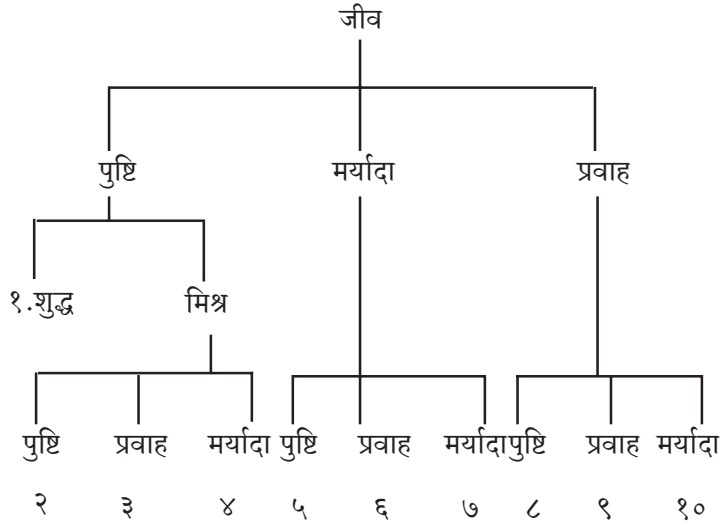

कुल: १०

३. तृतीय सम्भावित वर्गीकरण:

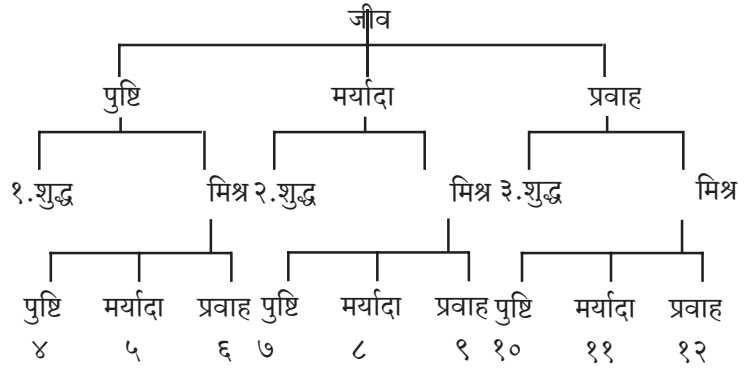

कुल: १२

इनमें श्रीमहाप्रभुको अभिप्रेत वर्गीकरण कौनसा है यह केवल पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थके आधारपर निर्विवाद निर्णीत नहीं हो पाता.

जीवोंके उपर्युक्त वर्गीकरणके अलावा मार्गभेद सर्गभेद एवम् फलभेदके आधारपर अन्य विशेषताओंका भी निरूपण यहां श्रीमहाप्रभुको अभिप्रेत है.

१.मार्गभेद:

पुष्टिमार्ग मर्यादामार्ग तथा प्रवाहमार्ग इन तीनों मार्गोंकी कुछ अपनी-अपनी विशेषतायें हैं. तदनुसार ये तीनों मार्ग परस्पर भिन्न-भिन्न हैं. तत्तत् मार्गोमें जीवोंके स्वरूप, उनके देह, उनकी रुचि, उनके व्यवहार तथा अन्तमें उन्हें मिलनेवाले फलके तारतम्यको दृष्टिगत करने पर मार्गभेदको भलीभांति समझा जा सकता है.

यह मार्गभेदकी धारणा शास्त्रीय प्रमाणोंपर अवलम्बित है. शास्त्रके अनुसार सारे लौकिक कर्मोंका उत्स कर्मकर्ता जीवके प्राकृत स्वभावमें तथा लौकिक प्रयोजनोंकी पूर्तिके प्रयासमें निहित रहता है. वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान स्वभावसे प्राप्त नहीं होता. किन्तु शास्त्रीय आज्ञाओंके अनुसरण करनेकी मनोवृत्तीसे प्राप्त होता है. फिर भी शास्त्रीय आज्ञायें स्त्री-पुरुष बालक-वृद्ध या ब्राह्मण-शूद्र आदिके देह और उनसे सम्बधित विविध अभिमानोंको लक्ष्यमें रख दी गयी हैं. अतएव ''त्रैगुण्यविषयाः वेदाः'' कहा जाता है.

इन लौकिक तथा वैदिक कर्मोंसे ऊपर उठनेकी ज्ञानमार्गमें जैसी सन्न्यासकी एक शास्त्रीय प्रक्रिया है, वैसी ही निर्गुण भक्तिमार्गीय सर्वसमर्पणकी भी एक शास्त्रवर्णित प्रक्रिया है. इसी अलौकिक निर्गुणा भक्तिके प्रकारको 'पुष्टिमार्ग' कहा जाता है. गीतामें दैवी सृष्टिसे भिन्न एक आसुरी सृष्टि दिखलायी गयी है वह प्रवाहमार्ग है. वेदोंमे वैदिक धर्मकी विभिन्न मर्यादाओंके निरूपण मिलते ही हैं और वह मर्यादामार्ग है.

इससे सिद्ध होता है कि जैसे प्रवाहमार्ग और मर्यादामार्ग परस्पर भिन्न हैं, वैसे ही इन दोनोंसे पुष्टिमार्ग भी एक भिन्न मार्ग ही है. सभी जीव अतः पुष्टि मार्गीय नहीं माने जा सकते हैं. लौकिक या वैदिक सभी तरहकी कामनाओं और प्रयोजनोंसे ऊपर उठकर जो जीवात्मा केवल भगवानकी ही भक्तिमें परायण हो जाती हैं उन्हें प्रवाहमार्गीय या मर्यादामार्गीय नहीं गिना जा सकता है. ''आत्मभावित भगवान् जिस जीवपर अनुग्रह करते हैं वही जीव लोकवेदोंमे अपनी परिनिष्ठत

बुद्धिसे छुटकारा पा सकता है'' (भागवत) तथा ''वेद, तप, दान, याग आदि किसी भी साधनसे मेरा दर्शन इस तरह कर पाना शक्य नहीं है, जैसा तुमने पाया है. अर्जुन यह तो केवल अनन्य भक्तिके कारण ही मुझे इस तरह जाना जा सकता है, तत्वतः देखा जा सकता है और अन्तमें मुझमें प्रवेश भी पाया जा सकता है'' (गीता) इन दो वचनोंसे क्रमशः विशेष अनुग्रह और तज्जन्य भक्तिका सुस्पष्ट निरूपण हमें मिलता है. इस तरह अन्यत्र भी ऐसी उत्कृष्ट भक्तिके निरूपणके बलपर उसके कारणभूत अनुग्रह या पुष्टिमार्गका अनुमान किया जा सकता है.

यहां यह शङ्का उठ सकती है कि मार्ग भिन्न-भिन्न नहीं मानने चाहिये किन्तु इनमें उत्तरोत्तर उत्कृष्ट होनेके सोपानोंका सा सम्बन्ध मानना चाहिये. प्रवाहके सोपानसे उत्कृष्ट मर्यादाका सोपान है तथा सर्वोत्कृष्ट सोपान निर्गुणावस्थाका है. यह शङ्का उचित नहीं है. क्योंकि श्रौत युक्ति तथा ब्रह्मसूत्र दोनोंसे उक्त धारणा विपरीत है.

जैसे आसुरी जीव तथा दैवी जीवोंका नित्यभेद श्रुतिसिद्ध है. उनके देह तथा कर्मों की भिन्नता भी श्रुतियोंमे वर्णित है. इसी तरहसे दैवी जीवोंके अन्तर्गत पुष्टिजीव और मर्यादाजीवों के स्वरूप देह तथा कर्मों में भी परस्पर भिन्नता स्वीकारनी चाहिये. अतः पुष्टिमार्ग, मर्यादामार्ग तथा प्रवाहमार्ग का भेद प्रमाणसिद्ध ही है.

२.सर्गभेद:

पुष्टिमार्ग, मर्यादामार्ग तथा प्रवाहमार्ग के प्रमाणसिद्ध भेदके विचारके बाद अब इन मार्गोंकी सृजनप्रक्रियाके भेदको भी समझ लेना चाहिये.

भगवान् स्वयम्के मनके द्वारा प्रवाहमार्गका सृजन प्रवर्तन तथा नियमन करते हैं. अतः प्रवाहमार्गीय जीवोंके विशिष्ट स्वरूप देह तथा व्यवहार की नियति केवल ब्रह्मकी इच्छापर ही निर्भर है. वैदिक मर्यादामार्गीय जीवोंके विशिष्ट स्वरूप देह तथा व्यवहार का भगवान् वेदरूपा वाणीके द्वारा सृजन प्रवर्तन तथा नियमन करते हैं. पुष्टिमार्गीय जीवोंके विशिष्ट स्वरूप देह तथा व्यवहार का सृजन प्रवर्तन तथा नियमन श्रीकृष्ण अपने प्रकट आधिदैविक स्वरूपके द्वारा करते हैं.

इस तरह इन मार्गोंमे सर्गभेद अथवा सृजनकी प्रक्रियामेंभीभेद हैं.

३.फलभेद:

प्रवाहमार्गीय जीवोंकी कामना एवम् आचरणके अनुकूल या प्रतिकूल फल

प्रभु स्वयम् अपनी इच्छानुसार निर्धारित करते हैं तथा उन्हें प्रदान करते हैं. मर्यादामार्गीय जीवोंके वेदविहित धर्मार्थकामरूप पुरुषार्थोंके अनुष्ठानका फल वेदादि शास्त्रोंमे निरूपित विविध मोक्षोंके रूपमें प्रभु देते हैं. पुष्टिमार्गीय जीवोंके भजनानन्द सम्बन्धी मनोरथोंकी पूर्ति श्रीकृष्ण अपने आधिदैविक स्वरूपके द्वारा करते हैं.

''मैं उन आसुरी जीवोंको निरन्तर अशुभ योनिमें डालता रहता हूं'' (गीता) ह्नइस वचनके आधारपर निरन्तर अशुभ भवप्रवाहमें बहनेवाले प्रवाही जीवोंसे मर्यादामार्गीय तथा पुष्टिमार्गीय जीवोंके फलको भिन्न मानना पड़ता है. क्योंकि इन्हें भवप्रवाहसे छुडाया जाता है तथा मोक्ष प्रदान किया जाता है.

(क-१)पुष्टिमार्ग:

इस तरह मार्गभेद सर्गभेद एवम् फलभेद के आधारपर पुष्टिमार्गीय जीवोंको अन्य जीवोंसे भिन्न मानना ही चाहिये.

यह पुष्टिसृष्टि भगवान्के आधिदैविक स्वरूपकी सेवाकेलिए ही प्रकट की गयी है. अतः भगवत्सेवाके अतिरिक्त अन्यत्र किसी कर्म या प्रयोजनमें पुष्टिसृष्टिके जीवोंका तत्पर होना भगवानको अभिप्रेत नहीं है. बाह्य दृष्टिसे पुष्टिमार्गीय जीवोंके स्वरूप देह स्वभाव एवम् व्यवहार तो सभी जीवोंके समान ही प्रतीत होते हैं. परन्तु अन्ततः आधिदैविक स्वरूपके भजनानन्दमें ही इन पुष्टिजीवोंको आकर्षण और सन्तोषका अनुभव होगा. क्योंकि इनसे यही काम प्रभु लेना चाहते हैं.

(क-२)पुष्टिसर्ग:

इस पुष्टिसृष्टिके पुनः दो अवान्तर भेद होते है:

१.शुद्ध पुष्टिसृष्टि

२.मिश्र पुष्टिसृष्टि

मिश्र पुष्टिसृष्टिके तीन अवान्तर भेद होते हैं. यथा:

१.पुष्टि-पुष्टिसृष्टि

२.मर्यादा-पुष्टिसृष्टि

३.प्रवाह-पुष्टिसृष्टि

१.पुष्टि-पुष्टिसृष्टिके जीव सर्वविध माहात्म्यज्ञानयुक्त तथा सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेहपूर्वक कृष्णसेवामें परायण होते हैं.

२.मर्यादा-पुष्टिसृष्टिके जीव भगवान् श्रीकृष्णकी लीला-कथाओंके द्वारा भगवानके गुणोंके प्रेमपूर्वक चिन्तन (श्रवण-स्मरण-कीर्तन) में परायण हो जाते हैं.

३.प्रवाह-पुष्टिसृष्टिके जीवोंमे न तो भलीभांति माहात्म्यज्ञान ही होता है और न उत्कट स्नेह ही. फिर भी कृष्णभजनके क्रियात्मक बाह्यरूपमें इनकी रुचि एवम् तत्परता होती है.

मिश्र पुष्टिसृष्टिके इन तीनों प्रकारोंसे विलक्षण शुद्ध पुष्टिसृष्टिके जीव होते हैं. इन्हें भगवान्के प्रति स्नेह किसी प्रमाणबलके आधारपर नहीं होता किन्तु भगवान् इनके समक्ष स्वयम् प्रकट होकर अपने आधिदैविक स्वरूपके प्रमेयबलसे इन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं. इनका भगवानके प्रति स्नेह उत्कृष्ट सहज एवम् शुद्ध अर्थात् अन्य किसीभी भाव या प्रयोजनसे अमिश्रित रहता है. यह अतिदुर्लभ प्रकारकी पुष्टिसृष्टि है.

(क-३)पुष्टिफल:

पुष्टिमार्गीय जीवोंका साधन जैसे भगवानकी पुष्टि या अनुग्रह है वैसे ही फल एकमात्र स्वयम् भगवान् ही हैं.

तत्तद् भक्तोंकेलिए गुण और स्वरूपके भेदोंके अनुसार जैसे-जैसे रूपधारण कर भगवान् प्रकट होते हैं, उन-उन निजी भगवद्रूपोंके साथ पुष्टिसृष्टिके विभिन्न जीवोंकी फलानुभूति सम्पन्न होती है. इन निजी भगवद्रूपोंसे अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी पुष्टिमार्गीय जीवकी आसक्ति जब भगवान् देखते हैं तो शाप भी दिलवाते हैं. कभी-कभी इन्हें साहङ्कार देखकर भी भगवान् शाप दिलवाते हैं. और तब ये पुष्टिजीव भूतलपर प्रकट होते हैं. कभी-कभी भूतलपर पुष्टिमार्गको प्रकट करनेकेलिए भी पुष्टिजीवोंको भूतलपर प्रकट किया जाता है. लोकमें आनेपर भी ये दैहिक रोगादिके उपद्रव अथवा मानसिक पाषण्डता आदिके उपद्रवसे ग्रस्त नहीं हो जाते. इन महानुभावोंका भूतलपर प्राकट्य, चाहे शापवश भी क्यों न हो, होता है प्रायः शुद्धताकेलिए ही.भगवान् इन जीवोंकेलिए अपने

स्वरूप तथा अपनी लीलामें जैसा तारतम्य प्रकट करते हैं तदनुसार इन भक्तोमें भी तारतम्य घटित हो जाता है. लौकिक व्यवहारका निर्वाह तथा वैदिक कर्तव्योंका पालन ये महानुभाव लोकमें बुद्धिभेद न पैदा हो जाये एतदर्थ अर्थात् लोकसङ्ग्रहार्थ ही करते हैं. इनकी सहज तथा उत्कट रूचि तो अपनी वैष्णवताके निर्वाहमें ही होती है ह्नलौकिकता या वैदिकता के निर्वाहमें नहीं.

इस तरह पुष्टिजीवोंके मार्ग सर्ग एवं फलका निरूपण सम्पूर्णहुआ.

कभी-कभी इन पुष्टिमार्गीय जीवोंके साथ सदा-सर्वदा भटकते रहनेवाले चर्षणी जीव भी सम्मिलित हो जाते हैं. अतः उनके स्वरूपका भी थोड़ा-बहुत निरूपण यहां अप्रसङ्गोपात न होगा.

चर्षणीजीव:

दैवी जीवोंके सङ्गके कारण कुछ अदैवी जीवोमें भी कभी-कभी तात्कालिक रूपमें दैवी लक्षण दिखलायी देने लगते हैं. पर ये लक्षण उन जीवोमें चिरस्थायी नहीं होते. ऐसे जीवोंको 'चर्षणी जीव' कहा जाता है. चर्षणी प्रतिदिन नये-नये मार्गोंपर भटकते रहते हैंह्ननये-नये रङ्ग बदलते रहते है. इनका अपना कोई स्थायी रङ्ग अथवा स्वभाव नहीं होता. जिनके साथ सम्मिलित हो जाते हैं, उतने समयकेलिए उनके गुण-धर्मोंको अपना लेते हैं. अपने नित्य-नूतन बदलते हुए रङ्गोमें कुछ न कुछ तात्कालिक फल अथवा अनुभूतियां इन्हें होती रहती हैं. दैवी जीवोंका सङ्ग पाकर दैवी शील प्रकट करते हैं तथा आसुरी जीवोंका सङ्ग पाकर ये आसुरी शील प्रकट करते हैं. स्थिर ये कहीं भी नहीं हो पाते.

(ख-१)प्रवाहमार्ग:

प्रवाहमार्गीय जीवोंके स्वरूप देह एवम् व्यवहार का अब निरूपण किया जाता है.

सभी आसुरी सृष्टिके जीवोंको प्रवाहमार्गीय समझना चाहिये. गीतामें इनका निरूपण ''इन्हें न उचित प्रवृत्तिका और न उचित निवृत्तिका ही बोध होता है'' कहकर किया गया है. प्रवाही जीवोंके दो अवान्तर भेद होते हैं. यथा:

१.अज्ञ प्रवाही जीव

२.दुर्ज्ञ प्रवाही जीव

१.आसुरी सृष्टिके जिन जीवोंका वर्णन भगवानने गीतामें किया है उन्हें दुर्ज्ञ प्रवाही जीव समझना चाहिये.

२.इन दुर्ज्ञ प्रवाही जीवोंके सङ्गवशात् प्रवाही स्वभाव या लक्षण प्रकट करनेवाले जीवोंको 'अज्ञ प्रवाही जीव' कहा जाता है.

पुष्टि जीव जैसे प्रवाहमार्गीय कुलमें जन्मग्रहण करनेपर भी प्रवाहमार्गीय वातावरणमें अपना ताल-मेल नहीं बैठा पाता, ठीक उसी तरह प्रवाहमार्गीय जीव पुष्टिमार्गीय कुलमें भी जन्मग्रहण कर ले परन्तु पुष्टिमार्गीय वातावरणके साथ वह अपना ताल-मेल नहीं बैठा पायेगा ... (यहांसे ग्रन्थ त्रुटित हो जाता है.)

ग्रन्थके प्रारूपके अनुसार अधोलिखित विषयोंपर प्रकाश अपेक्षित है.

(ख-१) प्रवाहमार्गीय जीवोंके देह एवं व्यवहारका निरूपण.

(ख-२) प्रवाहसर्ग

(ख-३) प्रवाहफल

(ग-१) मर्यादामार्ग

(ग-२) मर्यादासर्ग

(ग-३) मर्यादाफल तथा

(घ) उपसंहार

यप्रस्तुत संस्करण वि. सं. १९८१ में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रॅसिस द्वारा पुनर्मुद्रित रुप है. उस संस्करण के समकपादक तथा प्रकाशक श्रीमूलचंद तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल व्रजदास सांकलिया महानुभावोंका हम इस पुनर्मुद्रणावसरपर कृतज्ञताके साथ स्मरण करते है. इतिशम्.

S'RIMAD VALLABHACHARYA
AND
HIS MISSION.

S'rimad Vallabhacharya, the author of this little treatise ""Pushti-Pravaha-Maryada'' was born on the 11th day of the dark half of Chaitra, 1535 Samvat, (1479. A.D), in the forest of champa near Raipur. His father was Lakshmana Bhatta and Yallammagaru was his mother. He was a Telagu Brahmin studying the Taitiriya S'akha of the Black Yajur-Veda. Vallabha's birth is shrouded in the mysteries of the devotional beliefs of his followers, but one thing in certain that his followers believal in India. From the writings of Vallabha which are available now, we can say that this belief was shared by himself also. It is not an uncommon phenomenon in India. Ramanuja, Madhva, Nimbarka, Chaitanya and several other great teachers did believe in their special messages to the world. Vallabha's ancestors did believe in their special messages to the world. Vallabha's ancestors were Deekshltas and were devoted to Krishna in the form of Gopala. The Swarupa of Madana Mohanaji in the Seventh Pitha is the one which came to his from his Sixth ancestor Yajna Narayana Bhatta. It is possible that Vallabha's father Lakshamana Bhatta and his ancestors were the Upasakas of Gopala according to the cult of Vishnuswami. The early years of Vallabha were passed by him with his father at Benares, where he is said to have mastered all the Vedas, Six Darsanas and all schools of Astika and Nastika thinkers. He studied the S'aiva and Vaishnava Agamas. When Vallabha was comparatively young, his father died. Vallabha wanted to study the Vaishnava systems of Madhva, Ramanuja, Nimbarka and others and seeing that they were not prevalent there, in order to have direct knowledge, he is said to have proceeded to the south. Vallabha's desire to go the south of India was very natural. During that time there was the powerful Hindu kingdom of Vijaya Nagar of Vidya-Nagar, over which ruled the mighty monach Krishnadeva-Raya, himself a great

Vaishnava. During his time, it seems a convention was held of the representatives of all the existing Sampradayas. The session seems to have been going on when Vallabha visited Vijaya-nagar. The main dispute seems to have been between Vyasa Tirtha, the Madhva and some representative of Mayavadins. It seems also clear that the Dwaita philosophy of the Madhvas could not hold its own against the attacks of S'ankaras. At this juncture Vallabha seems to have baffled all by his great learning and powerful arguments. We see no reason to doubt this fact. The author of a rcently discovered work Vyasa-Yoga-Charitam, form Vyasa Raya Matha, does chronicle the fact that Vallabhacharya was honoured by the king krishnnadeva Raya under the presidentship of the then famous Madhva swmi Vyasa Tirtha. Vallabha's position was peculiar. He accepted Adwaita pure and simple without the interference of the Mayavada of S'ankaita; hence all the attacks advanced by Madhvas and others against Advaita lost their force as against him. His acceptance of 'अद्वैतपूर्वकभक्ति' disarmed the opposition of both Vaishnavas and S'ankaras. The position taken up by Vallabha was not altogether singular. We believe that Narayana Bhatta, the author of the famous drama Venisanhara, was the follower of a system of Philosophy which combined in itself the pure Adwaita of the Upanishads and the Bhakti Marga. Whatever that may be, it is certain that Vallabha made a very great impression on king Krishnadeva, Vyasa-Tirtha and others who were present there. In consequence of this session, the king performed a "Kanakabhisheka' with hundred Maunds of Gold. It is said that Vallabha did not accept this gold and began to commence his travels. This abstinence on the part of Vallabha added to the admiration of all those present for him. Vyasa Tirtha, the Madhva, actually requested him to be the head-priest of his matha after him. Vyasa-Tirtha with king Krishna-deva again approached Vallabha and presented him with a good many valuables. From these presents Vallabha is said to have prepared a gold Mekhala set with diamonds, rubies etc., and presented the same to S'ri

Vitthala in the Vitthala Swami Temple at Vijaya-Nagara. Ultimately, it appears, Vallabha could not conscientiously accept the offer of Vyasa-Tirtha, but from this time Vallabha came to be regarded as a great Acharya.

Before this, he seems to have met with great opposition from the Mayavadi pandits of Benares. In order to silence them for ever, Vallabha wrote out a pamphlet in mixed verse and prose and affixed the same to the doors of Kashi Visvanatha, with a challenge to Benares Pandits to refute the same, if they could. One Upendra was the leader of the opposition. It seems this discussion ended into threats of personal violence, as a consequence of which Vallabha left Benares and moved over to Adel on the opposite bank of the Ganges. This work seems to have created a great stir in the world of Scholars then living. One Ayyanna Dikshita actually mentions it by name in his Vyasa-Tatparya-Nirnaya. Ayyanna's seems to be a veiled attempt to belittle the achievement of Vallabhacharya by propounding a principle though novel, far from convincing, for finding out the true view of Vyasa. It is would be rather hazardous to say that the true view of Vyasa can be determined from the statement of the opponents. Assuming however that it is so, the opponents mention both Parinama and Vivarta as the view of Vyasa. Hence from the statements of opponent Sankhyas and Naiyayikas it is impossible to come to the conclusion that Vyasa teaches Vivarta alone in his Brahma sutras.

The last portion of his life was passed at Adel, where he finished his works which were begun by him during his travels and served Lord Krishna with the love and devotion of Gopees and founded his system on it. At the age of 52 he left his Parnasala, joined the sannyasa Asrama and came to Benares. For a month he observed fast and for the last eight days he observed मौनव्रत, and on the 2nd day of the bright half of Ashadha Samvat 1587, he left this world mid-day.

Vallabha married one Maha Lakshmi. By her he had two

sons, Gopinatha and Vitthales^Awara. Gopinatha had one son named Purushottama, after whom his line became extinct. Vitthaleswara lived over seventy years. He had seven sons. During his time the Sampradaya flourished very considerably. Todarmal, Birbal and Ray Purushottam seem to have come under his influence. Akbar also pressented him with Gokula and Jatipura villages in Vraja. All the present Maharajas are direct agnate descendants of Vitthaleswara.

While he was staying in the north of India, Vallabhacharya came into contact with Kesava Kashmirin, the famous Nimbarka scholar and Chaitanya, the Bengal Saint. They were both Krishnopasakas and it seems from Sampradayika gathas that their relations were very cordial. Kes^Aava presented his pupil Madhava Bhatta Kashmirin to Vallabha in Dakshina of भागवतकथाश्रवण. He became his devout disciple and during his whole life acted as the scribe of Sri Vallabha. It seems that during Madhava Bhatta's stay with him at Adel, Vallabha composed his numerous works. During that interval Vallabha wrote purva Mimansa Bhashya, Brahma-Sutra Bhashya, Tattvadipa-Nibandha with his own commentary, Sukshma tika and Subodhini on Srimad Bhagavata and the sixteen prakarana Granthas giving in brief the essence of his views. It is really unfortunate that only a fragment of his purva Mimansa Bhashya is available now. Anu Bhashya, as we have it now, is not wholly written by him.

The last Adhyaya and a half of the Bhashya is finished by his son Vitthaleswara. Sukshma tika is almost lost. Even Pushti-Pravaha-Maryada Bheda, one of the minor Prakaranas, here printed is not available as a whole. The Bhagavata Subodhini is available only on the 1st, 2nd, 3rd, 10th and a portion of 11th Skandhas. It is possible that Vallabha wrote on all the Skandhas. The loss of these valuable works seems to have been due partly to the apathy of his descendants and followers. It is a pity that no one seems to take care to preserve even those of the writings

of Vallabhacharya and his descendants which are available at present. Stray efforts like ours are hardly commensurate with the task which is of immense magnitude, requiring the collaboration of Scholars, Maharajas and rich Vaishnavas coupled with earnestness of purpose.

During his visit to vraja, Vallabha set up the Shrine of Sri Nathaji on the holy hill Govardhan in a temple built for that purpose by one Purna Malla Kshatriya. There Vallabhacharya used to pass his Chatura-Masa i.e. Ashadha Sukla eleventh to Kartik Sukla eleventh every year. Here he developed the asthetic side of Vaishnavism by refining and perfecting the mode of worship Seva Marga. During his stay in Vraja, on the midnight of 11th day of the bright half of Sravana, he says he had holy communion with Lord Krishna, who commanded him to initiate Jivas in his service. This initiation consists of two parts one is the formula to be repeated by the aspirant before the deity by holding Tulasi-leaves in hand and afterwards placing the same at the feet of the deity through Acharya and the other part is the effect of the same, on the devotee, by which he becomes the Adhikari in the Seva Marga of Lord Sri Krishna.

In the introduction to Siddhanta-Rahasya we have at length explained the ceremony of initiation and philosophical reasoning on which it was based. A person so initiated was considered to be a member of the Pusti-Marga, a path to approach God through his singular grace alone. In this Prakarana Grantha Vallabhacharya tries to distinguish this Pushti-Marga from the so-called Maryada-Marga and Pravaha-Marga. By a description of the characteristic features of these Margas, he tries to bring out the excellences of the Pushti-Marga as compared with the Maryada and Pravaha. The conditions political social social and religious then prevailing in India seem to have made Vallabhacharya very sceptical and nervous as to the future of the Veda-Marga or Maryada-Marga as he calls it here. A vivid picture of this degredation is drawn by him in another of his Prakarna Grantha Krishnasraya. The

country surrounding the holy rivers the Jamuna and the Ganges was overrun by mahomedans. The kingdom of the great Krishnadeva-Ray in whose court at Vijayanagar Vallabhacharya gained distinction as one of the greatest Acharyas then living, was under the perpetual terror of neighbouring mahomedan kingdoms of the Bahamany dynasty and its disruption appeared to him to be a question of time. After the death of Krishnadev-Ray, such a time did arrive and during the regime of weaklings who succeeded Krishnadeva, we find that the five mahomedan kings of the Bahamani Dynasty did combine to overthrow the Hindu kingdom of Vijaya-Nagar and they actually succeeded in destroying the Hindu kingdom of Vijaya-Nagar and they actually succeeded in destroying the same in 1565 A.D. in the battle of Talikota. This being the condition of India the very existence of the Vedic civilisation seemed to vallabhacharya to be in peril. Numerous writers before him had painted the picture of Vedic religion in colours which made it difficult, if not imposible, to be recognized. Even then, after removing all the false colours and showing it in true perspectable form, having regard to the disturbed state of society then existing in India. Vallabhacharya seems to have devoted much anxious thought to this problem. The problem before him was two-fold, first how he was to present the true picture of Vedic religion and secondly how he was to save mankind, degenerated and distracted as it was, on the basis of the same. These questions seem to have troubled him most. He found it impossible to solve this problem through human agency. It was in the moments of holy communion and devine inspiration, that a mode of worship was revealed to Vallabha. Divine grace was the essence of this mode of worship. Hence following ''पोषणं तदनुग्रहः'' a sentence in the Bhagavata, he named this mode as पुष्टिमार्ग.

The conception of this Pushti-Marga was based on a very broad basis. Traivarnikas and Non-Traivarnikas, males and femals can equally be Adhikari in this path. The position of the

female was elevated to an extent unknown to Vedic times. The conceptions of the Highest Deity, human soul, universe etc. were accepted on the basis of the vedic doctrine of Brahmavada, but the process of Sadhana was based purely on love generated by the singular grace of the Supreme Deity. The Grace Divine was to act in verse ratio of the individual's attachment to veda and Loka. The lesser the attachment to Loka and Veda, the deeper became the attachment to the Supreme Deity. The Grace Divine was to act in inverse ratio of the individual's attachment to veda and Loka. The lesser the attachment to Loka and veda, the deeper became the attachment to the Supreme Deity. Such love devoid of Upadhi and Avadhi was the index of the Divine Grace. Without love the mode of worship was not Seva, but a puja. Hence first requisite was the Grace Divine, which in its turn generated love to wards the Supreme Deity and non-attachment to wards the allurements of Veda and Loka. This could be achieved only by a complete self-surrender to the Supreme Deity. Hence this vow of "Samarpana' the Sadhaka had to take at the time of initiation. Taking this vow was the beginning and realisation of the Supreme was the end of this pushti-Marga, while the stage between the two ends was to be passed through the process of what are called तनुजा and वित्तजा सेवा. This process gradually eliminates the objectionable features of अहन्ता and ममता and generates a mental attitude in which the presence of the Supreme Deity is always experienced.

To distingush this Pushti-Marga from the Maryada and the pravaha, Vallabhacharya first explains the existence of these Margas. The existence of Bhaktimarga-path of devotion, pre-supposes the existence of pushti which itself is the finest flower of the Bhakti-Marga. The observance of the vedic rites and Vedic Jnana proves the existence of Maryada-Marga. Those who follow only worldly pursuits are said to follow the Pravaha-Marga. ''अत्रैवं स्वरूपनिश्चायनेन यावन्तः पुष्टिप्रयुक्ता मार्गा भक्तिरूपास्ते पुष्टिमार्गेऽन्तर्भवन्ति, ये लौकिकाः सर्गपरम्परां न विच्छन्दन्ति, ते प्रवाहेऽन्तर्भवन्ति,

ये वेदनियमं नातिवर्तन्ते, ते मर्यादायामन्तर्भवन्ति।'' The bhajana in pushti-Marga is due to love alone. This bhajana is not based on the injunctions of the Veda, nor on worldly selfishness. Hence the devotee who becomes the recipient of the singular grace of the Supreme Deity gives up his faith (Astha) both in Loka and Veda. The soul elect attains his status through Divine Grace alone un-fettered by vedic rules and worldly demands. Such a soul is the specially favoured one and naturally he is considered to have reached the highest stage. The difficulty to reach this stage is emphasized by krishna in 'कश्चिदेव हि भक्तो हि''.

Thus the Pushti Soul is distinct from the Maryada Soul as well as Pravahs Soul. The distinction was first inferred from the fact that the Pusti Soul's sole dependance is on the grace of the Supreme Deity, that of Maryada soul on Vedic injunction, that of Pravaha Soul on worldly pursuit. This distinction is due to difference in the mode of creation of each of these Souls. The Highest Deity is Sat-Chit. Ananda. He creates Pravaha Srishti through Manas, Maryada Srishti through Vachas and Pushti Srishti through Kaya or Ananda Srianga. Pravaha Srshti is Sadansa-Pradhana, Maryada Srishti Chidansa Pradhana, while Pushti Srishti is Anandans'a Pradhana. The Pushti Soul is Guided by the dictates of love of God, Maryada Soul by Vachas, Words of God spoken in Veda and Pravaha soul by the will, manas of Lord. The phala of Pravaha Soul gets only birth and death, the Maryada Soul Vedic Moksha and the Pushti Soul Praves^Aa-entrance in Lala Srshti. From this it a appears that Vallabhacharya regards the Pushti Soul as different both from Maryada Soul and Pravaha Souls. The Pushti Soul is meant for the service of the Swarupa of Lord and for no other object. Between the Pushti Soul who has reached the highest stage and the Supreme Deity there, is no तारतम्य so far as Swarupa, avatara, external sign, attributes, actions of Vigraha except that which is absolutely essential for the perfection of the Divine play. Such a soul being created षी काय (कः आनन्दः) आनन्दस्वरूप essentially resembles the Lord in

स्वरूप. He is like Him अतिरोहितसच्चिदानन्द. Just as the Lord comes down in the world (अवतार) making gÎd as His अधिष्ठान or basis, so also has he in this world सत्त्व as his basis. Like the Lord he has six गुण ऐश्वर्य etc. श्रुति **like** एकोऽहं बहु स्याम्, स एकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्, पतिश्च पत्नी चाभवताम् refer to such a soul. The पुष्टि **Soul is** मुक्त **and** शुद्ध. He is लीलासृष्टिस्थ. He is the true recipient of the Divine Grace पुष्टि. आविर्भाव manifestation of the Lord is his फल and not मोक्ष.

ThePushti Soul of this pure type is an extremely rare thing. In the mass we find Souls whose inclinations are mixed. Such mixed Souls have also their scope in the Divine Fair. Pushti Souls with Pushti become Sarvajna, Pushti souls with Pravaha become engrossed in actions pertaining to God and those with Maryada devote themselves to Gunas of God, while a Pushti Soul whth love alone is rare.

To the Pushti Soul God manifisted is phala in this and the next life. A Pushti Soul very often becomes subjected to other influences, then he is called Mis^Ara Pushti Soul. He does not ultimately suffer even when there is a curse in case of egotism. He has to suffer for a purpose and when that purpose is served, he also becomes pure. His Parinishtha being in God alone, the Laukika and Vedic activities followed by him are without Astha. He is placed in that position, so he seems to follow those activities, though his goal is Bhagavatprapatti alone. His Vaishnavatva is sahaja natural, while his other activities are due to the circumstances in which he is somehow placed. A Pushti Soul having come in Pravaha does not ultimately suffer from the shortcomings of Pravaha; the grace of Lord on which he depends, saves him there also.

After describing the characteristics of a pushti Soul, Vallabhacharya describes who are called Sambandhi Souls. They wander always. They don't really belong to any class, but become such on account of their contact with Souls of such a class. They are known as Charshani. They have no definite inclination. They

have their fruits according to their actions.

Pravaha Souls are described by Krishna in ''प्रवृतिं च''. They are known as Asuras. They are of two sorts. One class is known as दुर्ज्ञ and other as अज्ञ. The दुर्ज्ञ are real Asuras, while अज्ञ are those who follow दुर्ज्ञ. The Asuratva of अज्ञ being due to an extraneous cause, may disappear, while the दुर्ज्ञ being मायिक disappear into Maya.

Incomplete as this work is, we are not in a position to exactly understand the views of Vallabhacharya as regards the Maryada and Pravaha Souls, but the characteristics of the Pushti Soul–Soul Who is the subject of Lord's Varana are fully set out. The Soul elect is a peculiar Soul who though appearing sometimes different, never ceases to be as such. His Pramana, Prameya, Sadhana and Phala is Lord Krishna alone. Such a Soul may belong to any sex, class, or race, but if he has the requisite Prapatti–sole dependendce of God, He alone saves him. Such dependence is not possible in the absence of the purest love and such love is impossible in the absence of the Grace of God. For this reason Vallabhacharya declares that the sine quo non of the Adhikara in Pushti Marga is the Anugraha of the Supreme Deity. An^Yugraha of Lord controls the Pushti Soul from the व्युच्चरण to नित्यलीलाप्रवेश and nothing else. श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

Bombay

28th–3–1925 **M.T.Telivala.**

पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक्-पृथक्।
जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च।।१।।
वक्ष्यामि सर्वसन्देहा न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः।
भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः।।२।।
''द्वौ भूतसर्गा''वित्युक्तेः प्रवाहोपि व्यवस्थितः।
वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थिता।।३।।
''कश्चिदेव हि भक्तो हि यो मद्भक्त'' इतीरणात्।
सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः।।४।।
न सर्वोतः प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदतः।
''यदा यस्ये''ति वच 'न्नाहं वैदे''रितीरणात्।।५।।
सर्वोत्कृष्टत्वात् प्रवाहमार्गान्मर्यादामार्गाच्च भेद उक्तः।।५।।
अत्र कश्चित् पूर्वपक्षी शङ्कते मार्गैकत्व इति।
मार्गैकत्वेऽपि चेदन्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ।
न तद्युक्तं सूत्रतो हि भिन्नो युक्त्या हि वैदिकः।।६।।
जीवदेहकृतीनां च भिन्नत्वं नित्यता श्रुतेः।
यथा तद्वत्पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधतः।।७।।
प्रमाणभेदाद्भिन्नो हि पुष्टिमार्गो निरूपितः।
सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतम्।।८।।
इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः।
वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः।।९।।
मूलेच्छातः फलं वेदोक्तं वैदिकेपि च।
कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकता।।१०।।
''तानहं द्विषतो'' वाक्याद्भिन्ना जीवाः प्रवाहिणः।
अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः।।११।।
तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः।
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्।।१२।।
स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च।
तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा।।१३।।
तथापि यावता कार्यं तावत्तस्य करोति हि।
ते हि द्विधा शुद्धमिश्रभेदान्मिश्रास्त्रिधा पुनः।।१४।।
प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये।
पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः।।१५।।
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभाः।
एवं सर्गस्तु तेषां हि फलं त्वत्र निरूप्यते।।१६।।
भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद्भुवि।
गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत्।।१७।।
आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित्।
अहङ्कारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि।।१८।।
न ते पाषण्डतां यान्ति न च रोगाद्युपद्रवः।
महानुभावाः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे।।१९।।
भगवत्तारतम्येन तारतम्यं भजन्ति हि।
लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा।।२०।।
सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास्तथापरे।।२१।।
चर्षणीशब्दवाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु।
क्षणात् सर्वत्वमायान्ति रुचिस्तेषां न कुत्रचित्।।२२।।
तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र सकलं फलम्।
प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतान्।।२३।।
जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे ''प्रवृत्तिं चे''ति वर्णिताः।
ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदतः।।२४।।
दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता ह्यज्ञास्ताननु ये पुनः।
प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थस्तैर्न युज्यते।।२५।।
सोपि तैस्तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः।

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितः पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद : समाप्तः

श्रीकृष्णाय नमः।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा।

श्रीश्रीवल्लभकृतविवरणसमेता।

श्रीमत्पितृपदाम्भोजं नत्वा सर्वार्थसिद्धिदम्।
आचार्यदर्शितं मार्गत्रयं व्याख्यातुमुद्यतः।।१।।
हरिवागीशवागर्थो न स्वतो बुद्धिगोचरः।
तत्कृपैव तदीयं मां ज्ञात्वार्थं बोधयिष्यति।।२।।
इति निश्चित्य मनसि स्वाशक्तिं तत्कृपाबलम्।
विवृतिः कर्तुमारब्धा तत्पदाब्जप्रसादतः।।३।।

यद्यपि पुष्टिप्रवाहमार्गाः गीताश्रीभगवतादावुक्ता एव, तथापीयदवधि विविच्य केनापि न प्रकटीकृता इति श्रीमदाचार्याः प्रमाणपूर्वकं विविच्य प्रकटीकर्तुं प्रतिजानते पुष्टिप्रवाहमर्यादा इति।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक्-पृथक्।
जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च।।१।।

मार्गा इति शेषः। **विशेषेणेति**। तत्र **विशेषा** मार्गत्रयेपि प्रत्येकं पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदकृता विशेषाः। ते साङ्कर्याभावाय पृथक् निरूप्यन्ते। तत्र पूर्वं मार्गत्रयविभेदज्ञापकान् विशेषानाहुः **जीवदेहति।** पुष्टिमार्गीया जीवाः वक्ष्यमाणमार्गद्वयजीवेभ्यो भिन्नाः। तेषां देहाः पुष्टिमार्गानुकूला भिन्ना एव। तन्मार्गदेहसम्बन्धिक्रिया अपि भिन्नाः। निरन्तरं तदनुसारिक्रियाप्रवहणं प्रवर्तनं प्रवाहः भेदः। **फलेन च**। वक्ष्यमाणमार्गद्वयफलातिरिक्तफलेनापि भेदः। एवं प्रवाहमर्यादयोरपि। चकारात् साधनैरपि भेदः।।१।।

एवं प्रकारभेदैर्वक्ष्यामीति कथनं प्रतिज्ञायाः प्रयोजनमाहुः सर्वेति।

वक्ष्यामि सर्वसन्देहा न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः।

सर्वेषां मार्गत्रयाणां सन्देहाः संशयाः यस्य प्रकारभेदस्य श्रुतेः श्रवणात् कदापि कस्यापि **न भविष्यन्ति।**

एवमुद्देशेन मार्गत्रयभेदमुक्त्वा लक्षणैराहुः। तत्र प्रथमं पुष्टिमार्गसद्भावे प्रमाणमाहुः **भक्तिमार्गस्येति।**

भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः।।२।।

यद्यपि भक्तिमार्गा मर्यादादिभेदेन बहव एव श्रीभागवतादावुक्ताः सन्ति, तथाच, कपिलदेवैरुक्तं ''भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यत'' इत्यादि।

तथा चैकादशेपि योगेश्वरैर्भक्तभेदकथने भक्तिभेदा उक्ता एव। तथापि **शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यैर्भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चय** इति यदुक्तं तस्यायमाशयः। तत्र कपिलयोगेश्वराद्युक्तप्रकारेषु शुद्धपुष्टिलक्षणाभावात् न शुद्धपुष्टिभक्तित्वम्। अत एव शुद्धपुष्टिलक्षणमाहुः। ''माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः। स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा'' इति नारदपञ्चरात्रकथनात्। यद्यपि ''स्नेहो भक्ति''रित्येतावदेव मुख्यं भक्तिलक्षणम्, तथापि ''माहात्म्यज्ञानपूर्वस्त्वि''ति विशेषणकथनस्यायमभिप्रायः। प्रथमत एवाचार्यप्रकटितभक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य यावत्सुदृढः सर्वतोधिकः स्नेहो भवति, तावत्सेवादिकरणे अपराधाभावार्थं माहात्म्यज्ञानश्योपयोगः। सुदृढस्नेहोत्पत्त्यनन्तरं तस्य स्वत एव निवृतेः। अत एव पूर्णमाहात्म्यज्ञानवतां श्रीदेवकीमातृचरणानामपि शुद्धपुष्टिमार्गस्नेहोत्पत्त्यनन्तरं माहात्म्यज्ञानतिरोभावात् ''समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधी''रिति वचनम्। अन्यच्च। तत्रैव व्रजवासिनां सुदृढस्नेहवतामस्थासाधनविरुद्धसर्वाशक्यश्रीगोवर्धनोद्धरणम्, तेन च क्षुत्पिपासाद्यसह्यशारीरधर्मविनिवृत्तिपूर्वकं[1] सपरिकरसर्वव्रजरक्षाकरणम्। आत्मयोगानुभावेन श्रीगोवर्धनोपरिस्थितिपक्षिपश्वादिरक्षाकणरूपात्यद्भुतानिर्वचनीय माहात्म्यं दृष्ट्वापि वृष्टिनिवृत्त्यनन्तरं श्रीगोवर्धनच्छायातः सर्वान् बहिरानीय, श्रीगोर्वधनं यथास्थानं सम्यक् स्थापयित्वा, बहिरागमनानन्तरं दृष्टामाहात्म्यस्मरणसम्भावनारहितैर्व्रजवासिभिर्व्रजसीमन्तिनीभिश्च भगवति दध्ना[2] तिलकं विधाय, तदुपरि अक्षतान् स्थापयित्वा, जलं श्रीभगवदुपरि भ्रामयित्वा, तज्जलपानेन तदनन्तरमाशीर्योजनेन सुदृढस्नेहवत्त्वात् स्नेहकार्यमेव सर्वैर्व्रजवासिभिः कृतम्, न तु माहात्म्यदर्शनजनितगौरवेण नमनविज्ञप्त्यादिकमपि। तदेवोक्तम्, ''तं प्रेमवेगान्निभृता व्रजौकस'' इत्यादिना। अतो यावत् सुदृढः स्नेहो भवति, तावदेव माहात्म्योपयोगः, न तु सुदृढस्नेहोत्पत्त्यनन्तरमपीति सर्वमनवद्यम्। एतदेव भक्तिमीमांसायां शाण्डिल्यैरपि ''अथातो भक्तिजिज्ञासे''त्युक्त्वा ''सा पुरानुरक्तिरीश्वर''इत्येव भक्तिलक्षणमुक्तम्। नतु माहात्म्यज्ञानपूर्वकत्वमपि। अत एव यत्र परानुरक्तिः, तत्र परानुरक्तेरेव सर्वात्मना प्राबल्यम्, न तु माहात्म्यज्ञानसहभावस्यापि। अत एव श्रीगोकुले मृत्स्नाभक्षणप्रस्तावे श्रीमुख्यव्यादानानन्तरं सम्पूर्णब्रह्माण्डदर्शानानन्तरं पूर्णमाहात्म्यज्ञाने जातेपि श्रीमातृचरणानां परमानुरक्तिवशात् माहात्म्यज्ञानस्यैव तिरोभावः, न तु पुत्रत्वभावस्यापि। तस्मात् माहात्म्यज्ञानाद्युपाधिरहितः साक्षाद्धर्मिस्वरूपपर्यवसायी सुदृढः ज्ञानादिसर्वानपनोद्यः सर्वतोधिकः अगणितानन्दरूपः अतुल्यातिशयः एतादृशः स्नेह एव भक्तिदवाच्यः। एतादृग्भक्तिमार्गस्य कथनात् प्रमाणपूर्वकं निरूपणात् पुष्टिमार्गोस्तीति निश्चयः, यथा श्रीगोकुले। अत एव

---

१ निवृत्ति। २ दध्नादितिलकम्।

श्रीमदाचार्यैरुक्तं ''नि:साधनफलात्मायं प्रादुर्भूतोस्ति गोकुले'' इति। अत एव श्रीगोवर्धनोद्धरणप्रस्तावे ''तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रह''मित्यादिना भगवता सप्तदिवसधारणेन लोके जीवानां देवऋषिपितृआत्माआत्मीयऐहिकपारलौकिक इति सप्त रक्षका: प्रसिद्धा:, तद्रक्षात: पृथक्कृत्य स्वसम्बन्धस्थापनेन स्वयमेव रक्षाकरणेन केवलस्वीयत्वसम्पादनं पुष्टिस्वरूपमिति ज्ञापनायाचार्यैरुक्तं **पुष्टिरस्तीति निश्चय** इति।।२।।

एवं पुष्टिस्वरूपमुक्त्वा प्रवाहस्वरूपमाहु:।

''द्वौ भूतसर्गा''वित्युक्ते: प्रवाहोपि व्यवस्थित:।
वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थिता।।३।।

गीतासु ''द्वौ भूतसर्गौ लोकेस्मि''न्नित्यारभ्य ''मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गति''मित्यन्तं प्रवाहलक्षणस्योक्तत्वात् आसुरजीवा एव प्रवाहपदवाच्या:। तेषां कदापि कुत्रापि 'मामप्राप्यैवे'ति भगवद्वाक्यात् भगवत्सम्बन्धाभावात् आनन्दराहित्याच्च प्रावाहिकत्वमेव। नदीप्रवाहपतिततणकाष्ठादिवत् कुत्रादि स्थितिगतिपर्यवसानाभावात् प्रवाहरूपत्वमेव। यद्यपि तेषां अन्धतम:प्रवेशरूपा आसुरी मुक्तिरस्ति, तथापि तस्या: सुख-दु:खात्यन्ताभावरूपत्वेनानन्दशून्यत्वात् प्रवाहरूपतैवेति ज्ञापनाय भगवतोक्तम्, 'ततो' यान्त्यधमां गति''मिति। तस्या मुक्तेरधमत्वात् प्रवाहरूपैवेत्याचार्यैरुक्तं **''द्वौ भूतसर्गावित्युक्ते: प्रवाहोपि व्यवस्थित इति।** एवं प्रवाहलक्षणमुक्त्वा मर्यादालक्षणमाहु: **वेदस्येति। वेदस्येति** सामान्यकथनात् काण्डद्वयात्मको वेद उक्त:, तत्र काण्डद्वयेपि मर्यादाया निरूपितत्वात्। तत्र पूर्वकाण्डे कर्ममर्यादा निरूपिता, उत्तरकाण्डे ज्ञानमर्यादा निरूपितेति वेद एव मर्यादाद्वयसत्त्वे प्रमाणमित्युक्तम्। एवं कर्ममर्यादाज्ञानमर्यादासत्वे वेद एव प्रमाणमिति ज्ञापनायाचार्यैरुक्तं वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थितेति।।३।।

एवं मर्यादासत्त्वे प्रमाणं निरूप्य कर्ममार्गज्ञानमार्गयोरपि भक्तित्वमाशङ्क्य निराकुर्वन्ति कश्चिदेवेति।

''कश्चिदेव हि भक्तो हि यो मद्भक्त'' इतीरणात्।
सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चय:।।४।।
न सर्वोत: प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदत:।
''यदा यस्ये''ति वच 'न्नाहं वैदे''रितीरणात्।।५।।

अस्यावमर्थ:। कर्ममार्गस्य सकामनि:कामभेदेन द्विरूपत्वम्। तथाचोक्तं **भगवद्गीतायां,** ''त्रैविद्या मां सोमपा: पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते। ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्। ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते'' इति भगवद्वाक्यात् सकामकर्ममार्गीयाणां लौकिककामासक्तत्वान्न भक्तिगन्धोपि। नि:कामकर्ममार्गीयाणामपि चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन

ज्ञानमार्गपर्यवसायित्वमेव, न तु भक्तिपर्यवसायित्वमिति न भक्तित्वम्। ननु मर्यादामार्गीयज्ञानस्य ''ब्रह्मविदाप्नोति पर''मिति ब्रह्मविषयत्वात् भक्तित्वमस्तु, इति चेत्, सत्यम्। यद्यपि मर्यादामार्गीयज्ञानस्य ब्रह्मविषयत्वमपि, तथापि शुद्धज्ञानमार्गे ब्रह्मपदस्याक्षरपर्यवसानात् न भक्तिरूपत्वम्। यथा ''ब्रह्मविदाप्नोति परम्'', ''तदेषाम्युक्ता, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सोश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते''ति श्रुत्या। श्रुत्यन्तरेणापि ''न सदृशे तिष्ठति रूपस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति'' इत्यादि श्रुतिभिर्मुक्तिफलत्वेन ब्रह्मस्वरूपज्ञानमुक्तम्। ज्ञानमार्गे ''यो वेद, निहितं गुहाया''मित्युक्त्वात् हृदयाकाश एव अक्षरब्रह्मस्वरूपचिन्तनं मुक्तिसाधनत्वेनोक्तम्। श्रुत्यन्तरेपि ''हृदा मनीषां मनसाभिक्लृप्तो य एनं विदु''रिति कथनात् ब्रह्मस्वरूपं प्रादेशमात्रमङ्गुष्ठमात्रं वा हृद्येव कल्पयित्वा हृद्येव दर्शनम्, न तु भक्तिमार्गवत् बहिरपीति। अत एवाचार्यैरुक्तं **वेदस्य विद्यमानत्वात् मर्यादापि व्यवस्थितेति।** एतावत्येव वेदोक्तज्ञानमार्गमर्यादा।

एवं मर्यादाव्यवस्थामुक्त्वा अग्रे कश्चिदेव हि भक्तो हीति कथनस्यायमाशय:। पूर्वोक्तमर्यादामार्गीयस्यापि कदाचिद्भगवदनुग्रहेण भगवद्भक्तसङ्गेन वा यदि भगवति स्नेहोत्पत्तिर्भवेत्, तदा तस्यापि मर्यादामार्गीयभक्तत्वेन भगवत्प्रियत्वं भवति। अत एव गीतायां श्रीभगवतोक्तं ''अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्र: करुण एव च। निर्ममो निरहङ्कार: समदु:ख-सुख: क्षमी। सन्तुष्ट: सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चय:। मय्यर्पितनोबुद्धिर्यो मद्भक्त: स मे प्रिय'' इति। कश्चिदेवेतिकथनात् ज्ञानमार्गीयभक्तिप्राप्तौ दुर्लभत्वमुक्तम्। हीति युक्तश्चायमर्थ:। एकवारं हिशब्दस्य युक्तार्थत्वमुक्त्वा पुनर्हिशब्दकथनस्यायमाशय:। मर्यादामार्गीयो यदा मर्यादामार्गीयभक्तसङ्गत्या भक्त: स्यात्, तदा जडभरतवत् प्रसिद्ध एव भवेदिति प्रसिद्धत्वज्ञापनार्थं हि शब्द:। ननु मर्यादामार्गेपि भक्तिकथनान्मर्यादामार्गीयभक्ते: पुष्टिभक्तेश्च समत्वं भवत्वित्याशङ्कानिरासायाहु: **सर्वत्रोत्कर्षकथनादिति।**[१] श्रीभागवतगीतादिषु ''भक्तियोगो बहुविध'' इति यावन्तो भक्तिभेदा **उक्तास्तेभ्य: सर्वेभ्य:** उत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चय: सिद्ध:। उत्कर्षश्च यथा गीतायां ''तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योपि मतोऽधिक:। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुने''त्युक्त्वा ''योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मत'' इति भजनस्यैव सर्वोत्कर्षकथनात्। साक्षाद्भजनं पुष्टिमार्ग एव, न तु मर्यादाभक्तावपि। श्रीभागवते भगवद्वचनं ''तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मन:। न ज्ञानं न च वैराग्यं प्राय: श्रेयो भवेदिहे''ति। तथा श्रुतिरपि ''तमु स्तोतार: पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन। आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो

---

१ सर्वस्मिन् भक्तिमार्गेऽस्य स्नेहभक्तिरूपस्योत्कर्षकथनात्।

सुमतिं भजामहे''इति श्रुतावपि भजनस्यैवोक्तत्वात् तद्भजनं पुष्टिमार्गे एवेति सर्वत्र पुष्टिमार्गस्यैवोत्कर्ष उक्त इति ज्ञापनायोक्तं **सर्वत्रोत्कर्षकथनात्।** सर्वमार्गेभ्यः पुष्टिरुत्कृष्टेति ज्ञापनायोक्तं पुष्टिस्तीति निश्चयः निर्गलितार्थः। तथा च गीतायां ''यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारते''ति कथनात् सर्वभावेन भजनं पुष्टिमार्ग एव, न त्यन्यत्रापीति। सर्वोपि। प्रकारभेदभिन्नः **सर्वोपि** भक्तिमार्गः मिलितः कदाचिदेतत्समो भविष्टतीत्याशङ्कानिरासायाहुः **न सर्व** इति। एतत्पुष्टिमार्गसमः सर्वः सर्वोपि कोपि मार्गो न। अतः पुष्टिमार्गः प्रवाहाद्भिन्नः। **वेदादपि** वेदनिरूपितमर्यादामार्गादपि भिन्नः। कुतः भेदतः। स्वरूपसाधनफलभेदतः। भेदादित्यर्थः। अत्र भेदे प्रमाणान्तरमप्याहुः **यदा यत्येतिवचनादिति**। ''यदा यस्यानुगृह्णाति भगवाननात्मभावितः। स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिता''मिति। यदा यस्यानुगृह्णाति भगवान् पुष्टिमार्गे, 'अनुगृह्णति' इति पदाद्यदा अनुग्रहं करोति, तदैव पुष्टिमार्गे प्रवेशो भवति, तदा प्रवाहतो[१] मर्यादातोपि पृथक्करोति। अत एव सिद्धान्ते ''अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक'' इत्याचार्यवचनम्। गीतास्वपि ''नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा। भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तपे''ति। 'अनन्यभक्त्ये'ति वचनात् पुष्टिरूपया भक्त्या द्रष्टुं शक्य इति भक्तिमार्गस्य साक्षाद्दर्शनहेतुत्वम्, न तु ज्ञानमार्गवत् मनस्येवेति नियमः। इत्याद्यनेकहेतुभ्यः सर्वोत्कृष्टत्वात् प्रवाहमार्गान्मर्यादामार्गाच्च भेद उक्तः।।५।।

अत्र कश्चित् पूर्वपक्षी[२] शङ्कते **मार्गैकत्व** इति।

मार्गैकत्वेऽपि चेदन्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ।
न तद्युक्तं सूत्रतो हि भिन्नो युक्त्या हि वैदिकः।।६।।

त्रयाणां पुष्टिप्रवाहमर्यादामार्गाणां एकत्वमेव, भक्तिरूपत्वमेव। अस्यायमर्थः। यद्यपि पुष्टिमार्गस्य भक्तित्वमुभयवादिसम्मतमेव, तथापि **अन्त्यौ** प्रवाहमर्यादे **तनू** भक्त्यङ्गभूते। एवं सति ते अपि **भक्त्यागमौ** भक्तिप्रतिपादकशास्त्ररूपे मताविति तयोर्भक्त्यङ्गत्वं यद्भवीपि, तन्न प्रमाणसिद्धम्। तत्प्रमाणपूर्वकं तयोर्भक्त्यङ्गत्वं निराकुर्वन्ति न तद्युक्तमिति। तत्र प्रवाहमार्गस्य भक्त्यङ्गत्वनिराकरणे प्रमाणमाहुः सूत्रतो हीति। सूत्रं भक्तिमीमांसासूत्रम्। तद्यथा। ''तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्''। अस्यार्थस्तु, तत्संस्थस्य भक्तिमार्गप्राप्यपुरुषोत्तमनिष्ठस्य अमृत्वम्। तन्मार्गीयस्य[३] साक्षाद्भगवत्सम्बन्धस्यामृतत्वोपदेशात्। अमृतत्वकथनादिति भक्तिमागायसाधनफले[४] निरूपिते। उपदेशस्तु, ''अनिमित्ता

१ प्रवाहात्। अस्यैव व्याख्यानं प्रकारभेदभिन्नः सर्वोपि। २ पूर्वपक्षोट्टङ्कनं तु श्रीमत्कल्याणरायपादैर्दर्शितमत्रापि बोध्यम्। तथाहि। ननु प्रवाहमर्यादामार्गयारपि व्यवहारशुद्धिसाधकत्वे भक्त्युपयोगात् अङ्गाङ्गिभावेनैको भक्तिमार्ग एवास्त्विति। ३ सूत्रं फलपरत्वेन व्याख्यात साधनपरत्वेनापि व्याकुर्वन्ति तन्मार्गीयस्येत्यादि। ४ पुरुषोत्तमनिष्ठस्यामृतत्वं फलम्। साक्षाद्भगवदनुग्रहलक्षणस्तत्सम्बन्धः साधनं च निरूपितमित्यर्थः।

भागवती भक्तिर्मुक्तेर्गरीयसी''। ''राजन्पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां दैवं प्रियः कुलपतिः क्वच किङ्करो च''। ''अस्त्वेवमेव भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोग''मित्यादि। प्रवाहमार्गस्य ''प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे''त्यारभ्य 'मामप्राप्यैव'त्यन्तेन सर्वात्मना स्वसम्बन्धाभावकथनेन। अथ च भक्तिमार्गीयमुक्तेरमृतत्वकथनेन च प्रवाहमार्गीयमुक्तेरधमगतित्वकथनेनच प्रवाहमार्गस्य न भक्त्यङ्गत्वमिति त्वदुक्ताङ्गत्वशङ्का निरस्ता। एवं प्रवाहमार्गस्य भक्त्यङ्गत्वं निराकृत्य मर्यादामार्गस्यापि भक्त्यङ्गत्वं निराकुर्वन्ति युक्त्या हि वैदिक इति। भिन्न इति शेषः। युक्त्येत्येकवचनं जात्यभिप्रायेण। तत्रैता युक्त्यः। भगवद्गीतासु द्वादशाध्याये, ''एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते। ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमा'' इति अर्जुनेन भक्तिज्ञानयोस्तारतम्यप्रश्ने कृते सति, भगवता ''मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता'' इति भक्तिमार्गोत्कर्षमुक्त्वा, तदनन्तरं ज्ञानमार्गस्य अक्षरपर्यवसायित्वेन तारतम्यज्ञापनार्थं ''ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते। सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्। सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः। ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः। क्लेशोधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते''। अत्र भगवता ''ते प्राप्नुवन्ति मामेवे''ति यदुक्तम्, तदक्षरस्य पुरुषोत्तमविभूतिरूपत्वात् ज्ञानमार्गस्याक्षरपर्यवसायित्वज्ञापनार्थम्। तत्प्राप्तौ ''सन्नियम्येन्द्रियग्राम''मित्यारभ्य ''अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यत'' इत्यन्तेन साधनानां क्लेशसाध्यत्वमुक्त्म्। एतद्ग्रे ''मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय'' इति भक्तिमार्गसाधनानां सुखरूपत्वकथनेन। अनायासेन स्वप्राप्तिहेतुत्वमुक्त्वम्। 'मय्येवे'त्येवकारेण पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वमपि सम्भवति, तथापि तत्र ''ये त्वक्षर''मित्यवोद्दिश्य 'मामेवे'त्युक्त्वात् 'मा'मितिपदस्याक्षरपर्यवसायित्वमेव, अत्र तु ''मय्येव मन आधत्यस्वे''ति सुखरूपभक्तिमार्गमुद्दिश्य कथनेन 'मय्येव'पदं पुरुषोत्तमपरमेव। एवं मर्यादामार्गविभेदिकामेकां[१] युक्तिमुक्त्वा अन्यां युक्तिमाहुः। ''तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः। न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे''ति। यत्र भक्तियुक्तस्य मर्यादामार्गीयज्ञानस्य श्रेयस्त्वेनापि नोपयोगः, तत्र मर्यादामार्गीयज्ञानस्य तदुत्तयुक्तस्य वैराग्यस्यापि भक्त्यङ्गत्वाभावे किं वाच्यमित्यपि युक्तिः। युक्त्यन्तरमपि। ''नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः। ज्ञानिनां चात्मपोतानां यथा भक्तिमतामिहे''त्यत्र 'गोपिकासुत' इति भगवति पूर्णपुरुषोत्तमत्वमुक्त्वा तस्य भक्तिमतां सुखावाप्तिकथनेन ज्ञानिनामक्षरप्राप्तौ क्लेशयुक्तसाधनत्वकथनेन भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमः प्राप्यः, स च अनायासेनैव प्राप्यः। ज्ञानमार्गे अक्षरप्राप्तिः, सापि तु अधिकतक्लेशेनेति भक्तिमार्गभेदिका युक्तयः

१ 'एव'मित्यारभ्य 'आहु'रित्यन्तं 'तस्मान्मद्भक्ति'त्यादिग्रन्थस्य केनचिल्लिखित आभासो लेखकदोषान्मध्ये पतित इति भाति, असङ्गतत्वात्। इति टिप्पणं एकप्राचीनादर्शे। भगवत्कर्तृकत्वं वा कल्प्यं क्रियायाम्।

किमतोधिकं वाच्या इति ज्ञापनायोक्तं **भिन्नो युक्त्या हि वैदिक इति।** पूर्वं सूत्रतो हीति हिशब्देन सूत्रप्रामाण्येन प्रवाहमार्गस्य भक्तिमार्गाङ्गत्वाभावस्य युक्तत्वं ज्ञापितम्। **युक्त्या हि** वैदिक इत्यत्र युक्तीनां गीताश्रीभागवतादिषु मर्यादा मार्गस्य भक्तिमार्गाङ्गत्वाभावप्रसिद्धिद्योतनाय हिशब्दः।।६।।

एवं सूत्रयुक्तिभ्यां प्रवाहमर्यादयोः पुष्टिमार्गाङ्गत्वाभावं निरूप्यातः परं पुष्टिमार्गस्थानां जीवदेहकृतीनां मार्गद्वयापेक्षया सर्वात्मना सर्वप्रकारकोत्कर्षज्ञापनाय मार्गद्वयस्थजीवदेहकृतीनां स्वरूपं निरूपयन्ति जीवदेहकृतीनामिति।

जीवदेहकृतीनां च भिन्नत्वं नित्यता श्रुतेः।
यथा तद्वत्पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधतः।।७।।
प्रमाणभेदाद्भिन्नो हि पुष्टिमार्गो निरूपितः।।७ १/२।।

प्रवाहमार्गे जीवा आसुराः, दैवजीवेभ्यो भिन्नाः, तेषां देहा भगवद्भजनप्रातिकूल्यात् दैवदेहेभ्यो भिन्नाः। तेषां कृतिरपि स्वार्थं पशुहिंसादिरूपा दैवजीवकृतेः सकासाद्भिन्ना एव। एवं मर्यादामार्गेपि मर्यादामार्गीया दैवजीवाः प्रवाहामार्गीयासुरजीवेभ्यो भिन्नाः। तेषां देहाअपि वैदिकधर्मभगवत्पूजाद्यानुकुल्यात् आसुरजीवदेहेभ्यो भिन्नाः। तेषां कृतिरपि अग्निहोत्रादिश्रौतकर्मकरणेन मर्यादामार्गोक्तभगवत्पूजादिकरणेन ज्ञानोत्पत्त्याननुकूलत्यागादिकरणेन[1] च भिन्नैव। ननु भवता प्रवाहमर्यादयोर्जीवदेहकृतीनां भिन्नत्वं निरूपितम्, तत्र यथा मार्गद्वयेपि देहकृतीनामनित्यत्वं प्रतीयते तथा मार्गद्वयजीवानामप्यनित्यत्वं भवत्वित्याशङ्कां निराकुर्वन्ति नित्यतेतिपदेन। तत्र हेतुः श्रुतेः। तत्रेयं श्रुतिः। ''द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरेकः पिप्लं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति'' इतिश्रुत्या अन्तर्यामिनित्यत्ववत् जीवस्य नित्यत्वं साधितमिति न जीवानामनित्यत्वम्। अथवा। एवं मार्गद्वये जीवदेहकृतीनां भिन्नत्वं निरूप्य मार्गद्वयजीवदेहकृतीनां नित्यत्वकथनस्यायमाशयः। तत्र जीवानां नित्यत्वं सर्ववादिसम्मतमस्त्येव, परं यद्यपि देहकृतीनां नित्यत्वं न प्रतीयते, तथापि देहकृतीनां नित्यता श्रुतेरिति नित्यत्वकथनस्यायमाशयः। प्रवाहमार्गीयो जीवो यदा उत्पद्यते, देहान्तरं गृह्णाति, तदा पूर्वदेहलक्षणयुक्तमेव देहं गृह्णाति, प्राचीनदेहकर्मानुसारेणैव कर्म करोति, न तु पूर्वदेहपरावृत्तौ देहान्तरं प्राप्तमिति पूर्वदेहधर्मपरावृत्तिरपि भवति। एवमेव पूर्वकर्मणोपि।[2] एवं प्रतिजन्मनि देहधर्मकर्मणां तादृशत्वम्। न तु विपर्यासः। एवं देहकृतीनां प्रावाहिकारीत्या नित्यत्वज्ञापनायोक्तं नित्यतेति। तत्र हेतुः श्रुतेरिति। श्रुतिश्च ''सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्'', ''यदिदं किञ्च तत्सत्यमित्याचक्षते'' इति। अथवा। देहकृतीनां नित्यता लिङ्गशरीराभिप्रायेण। एवं मर्यादामार्गेपि जीवदेहकृतीनां नित्यता ज्ञेया। एवं यथा प्रवाहमर्यादामार्गीयोर्जीवदेह कृतीनां भिन्नत्वं नित्यत्वं चोक्तम् तथा पुष्टिमार्गेपि

१ ज्ञानोत्पत्त्यनुकूलेति पाठः। २ परावृत्तिरिति शेषः।

जीवदेहकृतीनां भिन्नत्वं नित्यत्वं चाहुः तद्वत्पुष्टिमार्गे इति। यद्यपि पुष्टिमार्गे जीवा दैवा एव, तथापि तेषां मर्यादामार्गीयदैवजीवेभ्यो वैलक्षण्यं दर्शयन्ति। यद्यपि मर्यादामार्गीयजीवा देवाः, पुष्टिमार्गीया जीवाश्च दैवा एव, तथापि द्वयोरपि दैवजीवत्वेपि मर्यादामार्गीयजीवादीनां निषेधपूर्वकं[1] पुष्टिमार्गीयजीवादीनां भिन्नत्वं चाहुः द्वयोरपि निषेधत इति। तत्र भेदप्रकारः। दैवत्वेपि पुष्टिमार्गे ''अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक'' इति वचनात् पुष्टिमार्गीयजीवानामनुग्रहविशिष्टत्वम्,न तु मर्यादामार्गीयजीववद्विध्यधीनत्वमपि। किञ्च। पुष्टिमार्गीयजीवानां ''यमेवैष वृणुते तेन लभ्य'' इति श्रुत्या साक्षात्पुरुषोत्तमवरणात् साक्षात्पुरुषोत्तमप्राप्तिरेव। मर्यादामार्गीयाणां तदभावादक्षरप्राप्तिरेव। यथा मर्यादामार्गीयदेहस्याग्निहोत्राद्यनुकूलत्वम् तथा पुष्टिमार्गीयदेहस्य शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यप्रकटितभगवत्सेवापरत्वमेव, न त्वन्यपरत्वमिति देहभेदः। देहभेदनिरूपणेन कृतेरपि देहाधीनत्वात् कृतीनां[2] भेदः सिद्ध एवेति नानुपपन्नं किञ्चित्। अथवा। यद्यपि पुष्टिमार्गीयजीवदेहकृतीनां पूर्वोक्तप्रवाहिकरीत्या नित्यत्वमस्त्येव, तथापि प्रकारान्तरेणापि नित्यत्वमुच्यते। साक्षात्पुष्टिपुष्टिभक्तानां साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धफलानुभवयोग्यदेहानां नित्यत्वमेव। अन्यथा श्रीगोकुलवासिनां ''ते तु ब्रह्महृदं नीता'' इति मुक्त्यनुभवकालेपि तेनैव देहेन मुक्त्यनुभवः। तदनन्तरं तेनैव देहेन सर्वेषां यथायोग्यं भक्तिमार्गीयफलानुभवः। यदि पुष्टिमार्गीयसाक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धिफलानुभवयोग्यदेहानां नित्यता न स्यात्, तदा मुक्त्यनुभवकाले स्थितिर्न स्यात्। तस्मात् पुष्टिमार्गीयदेहानां[3] नित्यत्वमेवेति नानुपपन्नं किञ्चित्। एवं फलोपयोगिदेहनित्यत्वनिरूपणेनैव साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धि फलानुभवयोग्यकृतीनां नित्यत्वमनुक्तसिद्धमितिदिक्। एवं पुष्टिमार्गीयजीवदेहकृतीनां स्वरूपं निरूप्योपसंहरन्ति प्रमाणभेदादिति। ''अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक'' इत्याद्युक्तप्रमाणैर्भेदनिरूपणात् प्रवाहमर्यादाभ्यां भिन्नः सर्वोत्कृष्टः शुद्धपुष्टिमार्गो निरूपितः। हि युक्तश्चायमर्थः। न हि साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धोपयोगिनो धर्माः मार्गान्तरेपि सम्भवन्तीति पुष्टिमार्गस्यैव सर्वोत्कृष्टत्वं युक्तमेवेति ज्ञापनाय हीत्युक्तम्।।१७ १/२।।

एवं प्रमाणभेदेन मार्गत्रयभेदं निरूप्य एतदग्रे मार्गत्रयस्य सर्गान्तरसादृश्यनिराकरणपूर्वकं सर्गमारभ्य फलपर्यवसानपर्यन्तं भेदं निरूपयन्ति सर्गभेदमित्यादि।

सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतम्।।८।।
इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः।
वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः।।९।।

तत्र प्रथमं प्रवाहमार्गसर्गभेदमाहुः इच्छामात्रेणेति। हरिः इच्छामात्रेण कांश्चिज्जीवानासुरान् करिष्यामीतीच्छया मनसा प्रवाहमार्गसृष्टिं कृतवान्। एवं प्रवाहमार्गसृष्टिमुक्त्वा मर्यादामागसृष्टिप्रकारमाहुः

१ ऐक्यनिषेधपूर्वकमित्यर्थः। २ कृतिभेदः। ३ जीवदेहानाम्।

वचसेति। वचसा वेदरूपवाण्या मर्यादामार्गं सृष्टवान्। मर्यादामार्गस्य वेदमूलकत्वप्रसिद्धिद्योतनार्थं हिशब्दः। एवं शरीरैकदेशाभ्यां मार्गद्वयसर्गमुक्त्वा पुष्टिमार्गसृष्टेः सर्वोत्कृष्टत्वज्ञापनाय पुष्टिमार्गसृष्टिमाहुः पुष्टिं कायेनेति। आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपेण सम्पूर्णकायेन पुष्टिमार्गसृष्टिं कृतवान्। मार्गत्रयप्रयोजनमग्रे वक्ष्यन्ति। सम्पूर्णदेहेन पुष्टिसर्गस्य कथनात् पुष्टिसर्गस्य सर्वोत्कृष्टत्वं निर्धारितमिति **ज्ञापनायोक्तं निश्चय** इति।।९।।

एवं मार्गत्रयसर्गस्वरूपं निरूप्य मार्गभेदेन मार्गत्रयफलस्वरूपमाहुः मूलेच्छात इति।

मूलेच्छातः फलं वेदोक्तं वैदिकेपि च।
कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकता।।१०।।

सृष्टयन्तर्गतानां केषाञ्चित् जीवानामासुरत्वसम्पादिका या भगवदिच्छा सा **मूलेच्छा,** ततः तदिच्छया लोके प्रवाहमार्गे फलं अन्धन्तमःप्रवेशरूपं भवतीत्यर्थः। एवं प्रावाहिकाणां फलं निरूप्य मर्यादामार्गीयाणां फलं निरूपयन्ति **वेदोक्तं वैदिकेपि** चेति। **वैदिके** मर्यादाज्ञानमार्गे ''तमेव विदित्वाति मृत्युमेति'' इत्यादिश्रुतिप्रतिपाद्यमक्षरप्राप्तिरूपं फलमुक्तम्। एवं कर्ममार्गेपि ''अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते''त्यादिश्रुत्या सकामस्य स्वर्गलोकप्राप्तिरूपं फलम्, निःकामयागकर्तुरपि स्वर्गलोककामनाभावात् स्वर्गलोके च ''यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं यत् तत्पदं स्वःपदास्पद''मिति स्वःपदलक्षणाभावात् आत्मसुखे च स्वःपदलक्षणयोगात् निःकामयागकर्तुरात्मसुखरूपं फलं भवति। चकारात्तादृशस्यापि भगवद्नुग्रहेण भगवद्भक्तसङ्गेन भक्तिप्राप्तौ सत्यां मर्यादामार्गीयभक्तस्यापि मुक्तिरूपा पुरुषोत्तमप्राप्तिर्भवतीति ज्ञापनाय चकारः। एवं द्विविधमर्यादामार्गीयाणां द्विविधं वेदोक्तं फलं निरूप्य पुष्टेः फलं निरूपयन्ति कायेन तु फलं पुष्टाविति। कायेन आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपेण, सर्वेन्द्रियास्वाद्यस्वरूपानन्ददानरूपं फलम् एतदतिरिक्तप्रकारस्य फलत्वाभावार्थे तुशब्दः। अत एव पुष्टिश्रुतिरूपाभिर्व्रजसीमन्तिनीभिः[१] 'अक्षण्वता'मिति श्लोके सर्वश्रुतिविरोधपरिहारेण सर्वेन्द्रियास्वाद्यपुरुषोत्तमस्वरूपस्यैव फलत्वं निरूपितम्। ननु मर्यादामार्गीयभक्तेरपि पुरुषोत्तमप्रापकत्वात् पुष्टिमार्गीयभक्तिरपि पुरुषोत्तमप्राप्तिहेतुत्वात् उभयोरपि फलैक्यं भवत्वित्याशङ्क्यां परिहरन्ति भिन्नेच्छातोपि नैकतेति। तस्यायमर्थः। यद्यपि मर्यादामार्गीयभक्तस्यापि अन्ते पुरुषोत्तमप्राप्तिस्ति, तथापि तस्य मुक्तिरूपैव प्राप्तिः, न तु पुष्टिमार्गीयभक्तवत् साक्षात्सम्बन्धरूपप्राप्तिः, यतो मर्यादामार्गीयभक्तस्यान्ते स्वप्राप्तौ तादृश्येव भगवदिच्छा। अत एव श्रीभागवते ''अनिच्छतोपि गतिमण्वीं प्रयुङ्क्त'' इति। पुष्टिमार्गीयस्य साक्षात् स्वरूपसम्बन्धानुभवरूपफलप्राप्तावेव भगवदिच्छा। यदि मार्गद्वयेपि एकमेवं फलं स्यात्, तदा मार्गभेदवैयर्थ्यमेव स्यादित्यत उक्तं ''भिन्नेच्छातोपि नैकते''ति।।१०।।

१ गोपीभिरित्यधिकं क्वचित्।

एवं मार्गत्रयस्य सर्गभेदं फलभेदं च निरूप्यैतेषां त्रयाणां स्वरूपाङ्गक्रिया निरूपयन्ति। तत्र प्रथमं प्रवाहमार्गीयाणां स्वरूपमाहुः **तानहं द्विषतो वाक्यादिति।**

''तानहं द्विषतो'' वाक्याद्भिन्ना जीवाः प्रवाहिणः।
अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः।।११।।
तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः।
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्।।१२।।

''तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमसुरानासुरीष्वेव योनिषु। आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि-जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गति''मिति प्रवाहमार्गीया जीवा मर्यादामार्गीयपुष्टिमार्गीयजीवेभ्यो भिन्ना आसुरा इत्यर्थः। अत एवेतरौ मर्यादामार्गीयपुष्टिमार्गीयजीवौ प्रवाहमार्गीयजीवेभ्यो भिन्नौ दैवावित्यर्थः। भेदप्रकारमाहुः सान्ताविति। तत्तन्मार्गीयफलपर्यवसानान्तौ। फलस्वरूपमाहुः मोक्षप्रवेशत इति। स्वस्वमार्गीयमोक्षप्रवेशत इत्यर्थः। ननु प्रावाहिकाणां जीवानामपि तन्मार्गीयमोक्षप्राप्त्या सान्तत्वसम्भवेपि उभयोरेव सान्तत्वकथने को हेतुरिति चेत्, सत्यम्, यद्यपि तन्मार्गीयमुक्त्या तस्यापि सान्तत्वं सम्भवति, तथापि तन्मुक्तेरानन्दराहित्यान्मोक्षलक्षणाभावात्, किञ्च, ''ततो यान्त्यधमां गति''मिति तन्मुक्तेरधमगतित्वनिरूपणात् आनन्दरूपफलपर्यवसानाभावान्न सान्तत्वेन गणना, न सान्तत्वमिति उभावेव सान्तौ गणितौ, न तु प्रवाहोपि इति ज्ञापनायोक्तं **सान्तौ मोक्षप्रवेशत** इति।

ननु 'मोक्षप्रवेशत' इति सामान्योक्त्या मोक्षस्य मार्गद्वयेपि एकरूपता भविष्यतीत्याशङ्कानिरासायाहुः **तस्मादिति।** यस्मात् पूर्वमेव पुष्टिमार्गीयाणां ''कायेन तु फलं पुष्टा''वित्यत्र फलभेदोपि निरूपित एव, तथापि पुनरपि यत् 'मोक्षप्रवेशत' इति सामान्योक्त्या फलैकत्वशङ्का तन्निरासाय विशेषतस्तेषां पुष्टिमार्गीयजीवानां स्वरूपमाहुः **तस्माज्जीवाः** पुष्टिमार्गे भिन्ना इति। मर्यादामार्गीयेभ्यो **भिन्ना एव,** अत्युत्कृष्टा एवेत्यर्थः। तेषां कदाचिन्मार्गान्तरीयसङ्गेपि मार्गान्तरप्रवेशो न भवतीति ज्ञापनाय **न संशय** इत्युक्तम्। अतः परं केवलपुष्टिसृष्टेः सर्वात्मना सर्वतो भेदेन सर्वोत्कृष्टत्वनिरूपणस्य प्रयोजनमाहुः **भगवद्रूपसेवार्थमिति**। यथा मर्यादासृष्टेः तन्मार्गीयधर्मकरणं प्रयोजनम् तथा पुष्टिसृष्टेः भगवत्सेवाकरणमेव प्रयोजनमिति, अत उक्तं भगवद्रूपसेवार्थमिति। यद्यपि मर्यादामार्गे सेवा वर्तते, परं तत्र मनस्येव अङ्गुष्ठमात्रादिरूपकल्पनेन, न तु साक्षादानन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपेण प्रकटस्येपि ज्ञापनाय स्वरूपपदमुक्तम्। **नान्यथेति।** एतत्प्रयोजनातिरिक्तप्रयोजनाभावार्थमुक्तं **नान्यथेति**। यदीदं प्रयोजनं न भवेत्, तदा पुष्टिसृष्टिरेव न भवेत्, अत उक्तं नान्यथा भवेदिति।।१२।।

सेवाकरणप्रकारमाहुः स्वरूपेणेति।
स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च।

तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा।।१३।।

तथापि यावता कार्यं तावत्तस्य करोति हि।।१३ १/२।।

यद्यपि केवलस्वरूपपदं केवलजीवपरमपि भवति, तथाप्यत्र फलरूपसेवाकरणप्रकारनिरूपणे देहरहितकेवलजीवस्वरूपेण सेवाकरणासम्भवात् स्वरूपपदं लीलोपयोगिदेहपरमेव। देहस्य फलरूपसेवोपयोगिफलोपयोगिफल रूपभजनोपयोगित्वकथनेन अविकृतत्वमानन्दमयत्वं नित्यत्वं च ज्ञापितम्। एवं साक्षाद्भजनोपयोगिदेहस्वरूपं निरूप्याविर्भावप्रकारमाहुः **अवतारेणेति।** अवतारणे साक्षात् फलरूपभजनोपयोगिसमाजमध्ये प्राकट्येन। भजनोपयोगिप्रकारान्तरमाहुः लिङ्गेनेति। भजनोपयोगिदेहचिह्नैरित्यर्थः। चकारस्तदुपयोगिवयःसमुच्चयार्थः। पुनः प्रकारान्तरमाहुः **गुणेने**ति। गुणाः सौन्दर्यरसोद्बोधकचातुर्यभावादयः। फलभोगस्य सर्वाज्ञातत्वप्रकारज्ञापनाय चकारः। (यतोऽयं[1] रसः सर्वात्मना गोपनीय एव, भगवतो रसपोषाय। अत एव फलप्रकरणीयलीलारम्भे मुख्यभक्तानां भगवन्निकटागमनसमये ''ता वार्यमाणा'' इति भर्त्रादीनां तदागमनज्ञानानन्तरमपि रसपोषाय योगमायाद्वारा तथा प्रभुः सम्पादितवान्, यथा तेषां ''मन्यमानाः स्वपार्श्वस्था''निति वचनात् तदागमनज्ञानसम्भावनापि नाभूत्। यदि तेषां तदागमनज्ञानसम्भावनापि स्यात्, तदा रसाभासः स्यात्। अतः सर्वाज्ञानमावश्यकम्)। ननु पुष्टिमार्गीयफलानुभवः भोक्तृभोग्यसाम्ये सति सम्पूर्णो भवति, न तु यत्किञ्चित्तारतम्येन। प्रभोरगणितानन्दस्वरूपत्वेन भजनरसानुभवकर्तॄणां तत्समत्वाभावात् पूर्णरसानुभवो न भविष्यतीत्याशङ्कापरिहाराय **स्वरूपेणेत्यादिना** भजनरसानुभवकर्तृयोग्यताप्रकारं निरूप्य पूर्णरसानुभवसिद्धिहेतुमाहुः **तारतम्यं न स्वरूप** इति। पूर्वोक्तरसानुभवकर्तृयोग्यताप्रकारैः पूर्णस्वरूपरसानुभवसिद्धिप्रतिबन्धहेतुतारतम्याभाव उक्तः। तारतम्यं न स्वरूप इति। स्वरूपे। यथा आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादेर्भगवतः आत्मनि देहे वा आनन्दमयत्वेन तारतम्याभावः, तथा साक्षात्फलानुभवकर्तृभक्तेष्यपि आत्मनि[2] आत्मस्वरूपे देहे वा आनन्दमयत्वादिना तारतम्याभावः। नतु प्राकृतदेहवत् देहात्मनोस्तारतम्यमपि। अत एव जन्मोत्सवाध्याये शुकदेवैरपि ''गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता'' इति श्लोके एतासां देहस्यालौकिकानन्दमयत्वज्ञापनाय ''आत्मानं भूषयाञ्चक्रु''रित्युक्तम्, न तु देहं भूषयाञ्चक्रुरिति। तेनात्मपदोपादानात् यथा आत्मा नित्य आनन्दमयः अविकृतः, तादृश एवैतासां देह इति ज्ञापितम्। यद्येवं न स्यात्, तदा ''ते तु ब्रह्महृदं नीता'' इत्यत्र मुक्तिसुखानुभवसमये तद्देहस्थितिर्न स्यात्। मुक्त्यनुभवानन्तरमपि तेनैव देहेन मुक्त्यधिकपूर्णभजनानन्दानुभवो न स्यात्। एतदेवामिप्रेत्याचार्यैरुक्तं तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वेति। अन्यथा उभयत्र पूर्णरसानुभवो

१ चिह्नान्तर्गतं नास्ति क्वचित्। २ पूर्णरसः।

न स्यात्। एवं देहात्मनोस्तारतम्याभावमुक्त्वा तत्क्रियास्वपि तारतम्याभावमाहुः तत्क्रियास्विति। क्रियासु तारतम्याभावप्रकारविशेषः। यथा भगवत्कर्तृकरसोपयोगिक्रियाविशेषैर्भक्तेषु परमानन्दरसानुभवः तथा भक्तकर्तृकरसोपयोगिक्रियाविशेषैर्भगवति परमानन्दरसानुभव इति तारतम्यभावः तथा सर्वत्र तारतम्याभावज्ञापनाय वाशब्दः। यद्यपि सर्वत्र तारतम्याभावोऽस्त्येव, तथापि भगवान् ततोपि अनिर्वचनीयपरमकाष्ठापन्नरसानुभवार्थं तारतम्यमपि करोतीत्याहुः तथापि यावतेति। यथा फलप्रकरणीयप्रथमाध्याये ''बाहुप्रसारपरिरम्भे''ति श्लोके ''उत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकारे''ति स्वरमणेन पूर्णरसानुभवं कारयित्वा, अग्रिमश्लोके ''आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योभ्यधिकं भुवी''ति स्वरूपपरावृत्तिरूपेण[1] पूर्णरसानुभवं कारयित्वापि, पुनश्च फलप्रकरणीयचतुर्थाध्याये ''तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुज'' इतिश्लोके ''मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययु''रित्यनेन भक्तमनोरथागम्यमपि पूर्वानुभूतपूर्णरसतारतम्यं ज्ञापयितुं स्वरूपानन्दं दत्तवानितिप्रकारं ज्ञापयितुमुक्तं यावतेति। यावता तारतम्येन तस्य भक्तस्य कार्यं मनोरथान्तरूपं स्वरूपानन्दानुभवं सिध्यति, तावत्तारतम्यं करोति। यत्र पूर्णरसदानार्थं तारतम्याभावं येषु भक्तेषु सम्पादितवान्, तेषु मनोरथान्तं स्वरूपानन्ददानं युक्तमेवेति ज्ञापनार्थं हिशब्दः।।१३ १/२।।

एवं प्रकारभेदेन शुद्धमार्गत्रयाणां फलपर्यवसानमुक्त्वा शुद्धमिश्रभेदेन मार्गत्रयेपि द्वैविध्यमाहुः **ते हि द्विधेति।**

ते हि द्विधा शुद्धमिश्रभेदान्मिश्रास्त्रिधा पुनः।।१४।।

प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये।

पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः।।१५।।

मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभाः।।१५ १/२।।

एवं द्वैविध्ये शुद्धभेदप्रकारस्य पूर्वोक्तत्वादतः परं मिश्रभेदस्य भेदत्रयमाहुः **मिश्रास्त्रिधा पुनरिति**। मिश्रेषु त्रैविध्यं दर्शयन्ति **प्रवाहादिविभेदेनेति।** त्रैविध्यदर्शनप्रयोजनमाहुः **भगवत्कार्यसि**द्धय इति। **भगवत्कार्यं** मार्गत्रयसर्गरूपम्, **तत्सिद्धये** मार्गत्रयविवेकज्ञानसिद्धयर्थमित्यर्थः। अथवा। **भगवत्कार्यं** लीलारूपम्, **तत्सिद्धये** क्रीडारससिद्धयर्थमित्यर्थः। अत एव श्रीभागवते विन्ध्यावल्याप्युक्तं ''क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्यु''रिति। मिश्रणां त्रैविध्यं दर्शयन्ति पुष्ट्या विमिश्रा इति। ये सर्वज्ञास्ते सर्वज्ञत्वेन पुष्टिमार्गोत्कर्षं ज्ञात्वा पुष्ट्या विमिश्रा भवन्ति, यथा नारदप्रह्लादादयः, ये पूर्णज्ञानफलनिष्ठाः सन्तः पुष्टिस्वरूपाभिज्ञास्ते पुष्ट्या विमिश्रा भवन्ति। पुष्टिमार्गाभिज्ञत्वे हेतुः **सर्वज्ञा** इति। ''ज्ञाननिष्ठा तदा ज्ञेया सर्वज्ञो हि यदा भवेत्''। ये स्वभावतः पूर्णज्ञाननिष्ठाः सन्तः सर्वज्ञत्वात् पुष्टिमार्गस्वरूपाभिज्ञास्त एवोक्ताः **पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञा** इति। अतः परं प्रवाहमिश्रणप्रकारमाहुः

१ स्वरूपाद्भगवद्रूपादपि परावृत्तिः पूर्वरूपापेक्षया स्वस्वरूपपरावृत्तिर्वा तत्पूर्वकमित्यर्थः।

प्रवाहेण क्रियारता इति। ये स्वभावतः काम्यकर्मरताः काम्यकर्मनिष्ठाः सन्तः प्रवाहेण मिश्रा जाताः,[१४] तदा विशेषेण काम्यकर्मनिष्ठाः काम्यकर्मरताः काम्यकर्मजडा एव भवन्ति। यथा सर्वज्ञाः पुष्ट्या विमिश्रा भवन्ति, तद्वदेव प्रवाहेण विमिश्रास्ते कर्मजडा एव भवन्ति। न तु मार्गान्तरविमिश्रा भवन्ति। त एवोक्ताः **प्रवाहेण क्रियारता इति।** एवं प्रवाहविमिश्रणप्रकारमुक्त्वा मर्यादामिश्रणप्रकारमाहुः **मर्यादया गुणज्ञा इति।** ये शुद्धमर्यादामार्गीयास्ते मर्यादामार्गीयभक्तसङ्गविमिश्रणेन भगवद्गुणपरा भवन्ति भगवद्गुणज्ञा इति। एवं मिश्रभेदान्निरूप्य सर्वतः सर्वोत्कृष्टत्वज्ञापनाय केवलपुष्टिमार्गीयान् निरूपयन्ति शुद्धाः प्रेम्णेति। शुद्धाः प्रेम्णा पुष्टिमार्गीयभावातिरिक्तभावान्तररहितास्ते अतीव दुर्लभाः। अतीव दुर्लभाः इत्यत्रातीवशब्दात् भगवदनुग्रहैकलभ्या इत्यर्थः। एवं मिश्रभेदप्रकारेण मार्गत्रयं[१५] निरूप्य शुद्धपुष्टिप्रकारनिरूपणेन पुष्टिमार्गस्य सर्वोत्कृष्टत्वं निरूपितम्।।१५ १/२।।

एवं तेषां मार्गत्रयाणां सर्गभेदप्रकारमुपसंहरन्ति एवं सर्ग इति।

एवं सर्गस्तु तेषां हि फलं त्वत्र निरूप्यते।।१६।।
भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद्भुवि।
गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत्।।१७।।
आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित्।
अहङ्कारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि।।१८।।
न ते पाषण्डतां यान्ति न च रोगाद्युपद्रवः।
महानुभावाः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे।।१९।।
भगवत्तारतम्येन तारतम्यं भजन्ति हि।
लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा।।२०।।
वैष्णवत्वं हि सहजं ततोन्यत्र विपर्ययः।।२० १/२।।

एवं अनेन प्रकारेण सर्गभेदमुपसंहृत्य तेषां फलनिरूपणं प्रतिजानते **फलं त्वत्र निरूप्यत** इति। अत्र मार्गत्रयनिरूपणप्रस्तावे मार्गत्रयस्य फलं निरूप्यते। तत्र पूर्वं पुष्टिमार्गस्य फलमाहुः भगवानेव हि फलमिति। अत्र भगवत्पदेन साक्षात्पुरुषोत्तम उक्तः। एवकारेण साक्षात् स एवानन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपेण प्रकट एव फलम्। स यथा पूर्वोक्तस्वरूप एव भुवि पुष्टिमार्गीयभक्तस्थितिस्थाने आविर्भवेत् प्रकटो भवेत्। कदाचित् ज्ञानिभक्तन्यायेन हृद्येव भावनाप्रकारेण प्राकट्यं भविष्यतीत्याशङ्कानिरासायाहुः **गुणस्वरूपभेदेनेति। गुणाः** ईक्षणभाषणादिलीलारूपाः, स्वरूपं तु पूर्वोक्तमेव, तद्भेदेन तत्तत्प्रकारभेदेन यथा प्रकटो भवेत्, तथा तेन प्रकारेण प्रकारभेदेन तेषां फलानुभवहेतुर्भवेदित्यर्थः। पुष्टिमार्गीयाणां साक्षात्सम्बन्धस्यैव फलत्वमेव युक्तमिति

१ जीवाः। २ त्रयभेदम्।

ज्ञापनाय हिशब्दः। ननु पुष्टिमार्गस्य सर्वोत्कृष्टत्वं यद्यपि सर्वप्रमाणसिद्धम्, तथापि तन्मार्गीयस्यापि वृत्रस्यासुरयोनिप्रवेशे को हेतुरित्याशङ्कानिरासायाहुः **आसक्तावपीति।** पुष्टिमार्गीयस्य स्वमार्गीयभगवत्स्वरूपातिरिक्तासक्तेरनुचित्वात् वृत्रस्य पूर्वजन्मनि सङ्कर्षणस्वरूपासक्तत्वात् तस्य च साक्षात् पुरुषोत्तमत्वाभावात् तदासक्तिनिवृत्यर्थं शापं दापितवान्। अथवा। **अहङ्कारे** सत्यपि क्वचित् **लोके** भक्त्या शापं दापयति। यथा परीक्षितिः। क्वचिदितिपदात् अहङ्काराभावेपि क्वचित् शापो दृश्यते। यथेन्द्रद्युम्ने अगस्त्यशापः। शापायोग्येष्वपि भगवद्भक्तेषु शापानिमित्तोद्गमनदर्शनेन यत् शापदानम्, तद्भगवदिच्छयैव, नतु प्रकारान्तरेणेति ज्ञापनाय **भगवानेवेत्यत्र एवकारः।** तत्र शापदाने हेतुमाहुः तन्मार्गस्थापनाय हीति। यस्य यस्मिन् मार्गे अङ्गीकारः, तस्य शापान्तरमपि तन्मार्गाङ्गीकारस्य नित्यत्वेन तन्मार्ग एव स्थापनम्, न तु मार्गान्तरसम्बन्धतदर्थमित्यर्थः। नित्यपदार्थस्य परावृत्त्यभावो युक्त इति ज्ञापनायोक्तं हीति। अतःपरं ज्ञापनन्तमपि मार्गाङ्गीकारस्थितिनित्यत्वज्ञापनप्रकारमाहुः **न ते पाषण्डतां यान्तीति।** यदि भगवदङ्गीकारस्य नित्यत्वं न स्यात्, तदा तेषां भगवत्सम्बन्धाभावात् पाषण्डित्वमेव स्यात्। यदि तेषां भगवदङ्गीकारो न स्यात्, तदा कल्माषपादवत् ब्रह्मद्रोहरूपं दुष्टकर्माचरणं स्यात्। अत एवोक्तं **न ते पाषण्डतां यान्तीति।** ते पाषण्डमार्गप्रविष्टा न भवन्तीत्यर्थः। एवमेकं मार्गाङ्गीकारनित्यत्वज्ञापलक्षणमुक्त्वान्यान्यपि लक्षणान्याहुः। शापस्य क्लेशहेतुत्वमाशङ्क्याङ्गीकारनित्यत्वेन तदभावमाहुः **न च रोगाद्युपद्रव** इति। तेषां व्याध्याद्युपद्रवो न भवति। अत एव वृत्रस्य सर्वाभिभावुकत्वम्, न तु केनाप्यभिभाव्यत्वम्। लक्षणान्तरमाहुः **महानुभावा** इति। महान् अनुभावो येषाम्। यद्यपि शापयुक्तास्तथापि ते महानुभावा एव। अत एव भगवन्मार्गात्त्वज्ञैर्महादेवैः शापदानान्तरं पार्वतीं प्रति तेषामनुभाव उक्तः। ''दृष्टवत्यसि सुश्रोणि हरेरद्भुतकर्मणः। माहात्म्यं भृत्यभृत्यानां निःस्पृहाणां महात्मनाम्। नारायणपरा लोके न कुतश्चन बिभ्यति। स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन'' इति। ननु यदि तेषां महानुभावत्वं तर्हि कथं शापसम्भव इत्यत आहुः **प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे** इति। शास्यते अनेनेति व्युपत्त्या शास्त्रमिति, शापस्य शास्त्ररूपत्वात् पूर्वजन्मापराधनिवृत्तिहेतुत्वेन शुद्धिहेतुत्वमुक्तम्। प्रायेणेति सम्भावना। एवं भगवदङ्गीकारस्य नित्यत्वं मर्यादामार्गेपि ज्ञेयम्। नित्यत्वज्ञापका धर्माः ''न ते पाषण्डतां यान्ती''त्यादयो मर्यादामार्गेपि ज्ञेयाः। परीक्षितिः गजेन्द्रे च। ननु यदि शापनन्तरमपि भगवदङ्गीकारस्य नित्यत्वेन त्रिष्वपि पूर्वधर्मसमानत्वम्, तर्हि फलेपि साम्यं भविष्यतीत्याशङ्कानिरासायाहुः भगवत्तारतम्येनेति। भगवत्स्वरूपतद्भजनप्रकारतारतम्येन फलेपि भक्तास्तारतम्यं भजन्ति हि। तत्र भजनतारतम्यप्रकारः। पुष्टिमार्गभजने स्नेह एव नियामकः।

मर्यादामार्गीयभक्तभजने मर्यादामार्गीयभक्तस्य यद्यपि भजनीयपुरुषोत्तम एव, तथापि तत्र विधिरेव नियामकः, न तु स्नेहोपीति तारतम्यम्। इन्द्रद्युम्नस्य पूजापरत्वात्, तत्र पूज्यस्य पुरुषोत्तमविभूतिरूपत्वात् पूजायाश्च कर्ममार्गत्वात् तत्रापि विधिरेव नियामक इति। भगवत्स्वरूपतद्भजनप्रकारतारतम्येन तारतम्यं भजन्ति। भजनतारतम्येन फलतारतम्यस्य युक्तत्वज्ञापनाय हिशब्दः। फलतारतम्यं तु ''गजेन्द्रो भगवत्स्पर्शाद्विमुक्तोऽज्ञानबन्धनात्। प्राप्तो भगवतो रूपं पीतवासश्चतुर्भुज''मित्यादिवाक्येषु प्रसिद्धमिति नात्र विचारः। ननु यदि तेषां केवलं भगवत्परत्वमेव, तर्हि श्रौतस्मार्तकर्माचरणे को हेतुरिति चेत्, तत्राहुः लौकिकत्वं वैदिकत्वमिति। यद्यपि ज्ञानमार्गीयस्यापि भक्तस्य ''तावत्कर्माणि कुर्वीते''त्यनेन श्रौतस्मार्तकर्माचरणस्यानावश्यकत्वं श्रूयते, पुष्टिमार्गीयाणामपि 'यानास्थाये'तिवाक्यात्। अत्र 'आस्थाये'ति, आस्थानं नाम कायवाङ्मनसां तदेकपरत्वम्, तादृशानामपि श्रौतस्मार्तकर्माचरणानावश्यकत्वेपि यत्कर्माचरणं तत्र को हेतुरित्याशङ्क्य हेतुमाहुः **वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यादिति। वैदिकत्वं** वैदिककर्माचरणम्, लौकिकत्वं लौकिकव्यवहारादिप्रतिपालनम्, तत्तेषु कापट्यात् कापट्याद्धेतोरित्यर्थः। **कापट्यं** नाम लोकसङ्ग्रहः। अत एव भगवताप्युक्तं ''सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत। कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम्। न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्। जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्'' इति भगवद्वाक्यात् तत्तन्मार्गीयपूर्णभक्तिमतां लौकिकवैदिककर्माचरणं लोकसङ्ग्रहार्थमेव, न तु कर्मासक्तानामिव परमपुरुषार्थरूपत्वेन। यद्यपि तेषां पूर्वोक्तकर्मकरणमनासक्तिपूर्वकं लोकसङ्ग्रहार्थमेवेत्युक्तम्, तर्हि तेषां कस्मिन् कर्मणि आसक्तिपूर्वकं करणमिति चेत्, तत्राहुः **वैष्णवत्वं हि सहजमिति**। वैष्णवत्वं नाम पुष्टिमर्यादामार्गप्रवर्तकाचार्योपदशेपूर्वकं तदुक्तप्रकारेण तन्मार्गानुवर्तित्वम्, तदेव तेषां सहजो धर्मः स्वाभाविको धर्मः, सहजमिति। तेन तन्मार्गीयाणामेव धर्माणामासक्तिपूर्वकं करणम्, **ततोऽन्यत्र ततः** वैष्णवधर्मातिरिक्तधर्मेषु विपर्ययः पूर्वोक्तप्रकारः अनासक्तिपूर्वकं करणम्, लोकसङ्ग्रहार्थं करणमित्यर्थः।।२० १/२।।

एवं मार्गद्वयजीवानां फलपर्यवसानान्तां कृतिं निरूप्य पुष्टिमर्यादामार्गाङ्गीकाररहितानां दैवजीवानां साधारणानां स्वरूपं कृतिं चाहुः सम्बन्धिनस्त्विति।

सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास्तथापरे।।२१।।
चर्षणीशब्दवाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु।
क्षणात् सर्वत्वमायान्ति रुचिस्तेषां न कुत्रचित्।।२२।।

तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र सकलं फलम्।।२२ १/२।।

सम्बधिनः दैवजीवत्वेन पुष्टिमर्यादामार्गाङ्गीकृतजीवसम्बन्धिनो, न तु तन्मार्गप्रवृत्ताः। तथा **अपरे प्रवाहस्थाः।** ते सर्वे चर्षणीशब्दवाच्याः सर्वमार्गेषु परिभ्रमणशीलाः। त एव **सर्ववर्त्मसु** मार्गत्रयेष्वपि **क्षणात्** कालविशेषं प्राप्य सर्वत्वं तत्तन्मार्गीयत्वं प्राप्नुवन्ति, तत्तन्मार्गीयधर्मानुकरणं कुर्वन्ति। ते मार्गत्रयधर्मानुकरणमेव कुर्वन्ति। न तु **तेषां कुत्रचित् रुचिः।** रुचिः क्वापि न भवतीत्यर्थः। न तु क्वापि श्रद्धेत्यर्थः। तेषां फलपर्यवसानमाहुः **तेषां क्रियानुसारेणेति।** तेषां तत्तन्मार्गीयक्रियानुकरणेन सर्वत्र सकलं कामितं कामनाविषयं फलं भवतीत्यर्थः। तेषां भगवदङ्गीकृतानां साधारणानां कामासक्तत्वात् तत्तत्क्रियानुसारेण सकलं तत्तत्कामितं फलं भवतीत्यर्थः।।२२ १/२।।

एवं सम्बन्धिनां स्वरूपमुक्त्वा केवलप्रवाहस्थानां स्वरूपमाहुः **प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामीति।**

प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतान्।।२३।।
जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे ''प्रवृत्तिं चे''ति वर्णिताः।
ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदतः।।२४।।
दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता ह्यज्ञास्ताननु ये पुनः।
प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थस्तैर्न युज्यते।।२५।।
सोपि तैस्तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः।।२५ १/२।।

कथनप्रकारमाहुः **स्वरूपाङ्गक्रियायुतानिति।** तेषां स्वरूपमाहुः **जीवा** इति। ते प्रवाहस्था जीवा आसुराः, ते सर्वे भगवतैव ''प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे''ति वर्णिताः। आसुरेष्वपि प्रकारभेदमाहुः **ते द्विधेति।** द्वैविध्यमेव प्रदर्शयन्ति ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदत इति। यथा दैवजीवेष्वपि केचन पण्डिताः, केचन न, तद्वत् केचन आसुरेष्वपि दुर्ज्ञाः, केचन अज्ञाः। दुर्ज्ञानां लक्षणमाहुः दुर्ज्ञास्त इति। ''प्रवृतिं च निवृतिं चे''ति भगवत्प्रोक्तलक्षणा दुर्ज्ञाः। अज्ञानाहुः **तानन्विति।** ये तान् अनु तदुक्तप्रकारानुवर्तिनस्ते अज्ञाः। नन्वासुरेष्वपि जीवेषु म्लेच्छादिषु कस्यचिद्भगवत्परतादर्शने को हेतुरित्याशङ्कायामुच्यते। वस्तुतस्तु स नैवासुरजीवः, शुद्ध आसुरजीवे भगवद्भावस्यासम्भवात्। किन्तु भगवदपराधाद्भगवद्भक्तापराधाद्वा सोपि पुष्टिमार्गीयः **प्रवाहे समागत्य** प्रवाहस्थैः सङ्गं प्राप्यापि, तत्कुले जन्म वा प्राप्यापि, **तैर्न युज्यते,** आसुरभावैर्योगं न प्राप्नोति। ननु यदि स आसुरभावैर्न युज्यते, तर्हि तस्यासुरकुलोत्पत्तौ को हेतुरिति चेत्, तत्राहुः कर्मणा जायते यत इति। कर्मणा पूर्वोक्तभगवदपराधरूपेण अथवा तज्जनितप्रारब्धकर्मणा, जन्मनः

प्रारब्धकर्माधीनत्वात्। तत्रासुरकुले जन्मानन्तरमपि तद्भावसम्बन्धाभाव: कथं सम्भवतीति चेत्, उच्यते। तस्य पूर्वजन्मनि पुष्टिमार्गीयत्वेन भगवदङ्गीकृतत्वात्। भगवदङ्गीकारस्य नित्यत्वात्। अत एव गीतायां भगवताप्युक्तम् ''स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भया''दिति। तस्य पूर्वजन्मनि भगवद्धर्माचरणाख्यसंस्कारस्य बलिष्ठत्वात् आसुरकुले जन्मानन्तरमपि नासुरभावप्रवेश:। किञ्च। गीतायां ''अयति: श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानस'' इत्यरभ्य''त्वदन्य: संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते'' इत्यन्तेन पार्थपृष्टेन भगवता ''पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते। न हि कल्याणकृत कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति। प्राप्य पुण्यकृतान् लोकान् उषित्वा शाश्वती: समा:। शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोभिजायते। अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्। एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्। तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम्। यतते च ततो भूय: संसिद्धौ कुरुनन्दन। पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोपि स:। जिज्ञासुरपि योगस्य परं ब्रह्मातिवर्तते'' इत्यन्तेन पार्थसंशयो निवारित:। यत्र योगभ्रष्टस्यापि पूर्वजन्मयोगधर्माचरणंसस्कारानिवृत्ति:, तत्र भगवदङ्गीकृतस्य पुष्टिमार्गीयस्य पूर्वजन्माचरितभगवद्धर्मस्य सर्वतोधिकप्राबल्यात् आसुरसङ्गेन तत्कुलजन्मनापि पूर्वजन्मसंस्कारनिवृत्त्यभावात्, यावज्जीवं तत्संस्कारवत्त्वेन अन्तकालेपि तत्संस्कारस्य विद्यमानत्वात् ''अन्ते या मति: सा गति''रिति शास्त्रात् ''यं-यं वापि स्मरन् भाव''मिति भगवद्वाक्याच्च तस्य भगवत्प्राप्तिरेव, न तु आसुरभावजनित: कोप्यन्तराय इति सर्वमनवद्यम्।।२५ १/२।।

यद्यप्यत्र ग्रन्थोपसंहारदर्शनाभावादग्रेपि ग्रन्थोस्तीति ज्ञायते, तथाप्यग्रिमग्रन्थस्याप्रसिद्धत्वाद्यावत्प्रसिद्ध एव व्याख्यात इति नानुपत्ति: काचित्।

श्रीमत्कृष्णास्यवागर्थो दुर्बोध: सर्वथा स्वत:।
तत्कृपातस्तदीयस्य बुद्धिगम्यो न चान्यथा।।१।।
नत्वा पितृपदाम्भोजं कृपामधुसुपूरितम्।
तदालोडितबुद्धयैव श्रीमदाचार्यभाषितम्।।२।।
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदकं शास्त्रमद्भुतम्।
श्रीवल्लभेन व्याख्यातं तत्कृपातो यथामति।।३।।
तेनाचार्या: प्रसीदन्तु मयि नि:साधने स्वत:।
तेनैव मम नैश्चिन्त्यमैहिके पारलौकिके।।४।।

इति श्रीपितृचरणैकतानश्रीवल्लभविरचितं पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवरणं समाप्तम्।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नम:।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा।

श्रीरघुनाथकृतविवरणसमेता।

नमो भक्तभयाभावभाविने भक्तिदायिने[1]।
श्रीमदग्निकुमाराय पारावाराय[2] सत्कृते।।१।।

इदानीं भगवत्प्राप्तिलक्षणमुख्यफलतदभावौ किन्निबन्धनाविति संशयं निवारयितुं मार्गभेदविचारमारभन्ते **पुष्टिप्रवाहमर्यादा** इति।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक्-पृथक्।
जीवदेहक्रियाभेदै: प्रवाहेण[3] फलेन च।।१।।
वक्ष्यामि सर्वसन्देहा न भविष्यन्ति यच्छ्रुते:।

पुष्टिरनुग्रहो धर्म्येकनिष्ठ:, स एको मार्ग:। **प्रवाहो** ''जायस्व म्रियस्वे''त्येवंरूप:। **मर्यादा** वेदोक्तवचनोत्थो मार्ग:। एतान् पृथक्-पृथक् प्रत्येकं **तेषामसाधारणलक्षणैर्जीवदेहप्रवाहक्रियाफलरूपैर्विशिष्य**[4] यथा ज्ञायन्ते तथा वक्ष्यामि, यतो[5]यच्छ्रवणानन्तरं पूर्वसन्देहा: सर्वविषयका न भविष्यन्तीत्यर्थ:। अत्र जीवप्रवाहयोर्विशेषणविशेष्यभावेनैक्यं ज्ञेयम्, न भेद:। देहक्रिययोरप्येवमेव ज्ञेयम्। भेदानग्रे स्वयमेव वदिष्यन्ति।।१।।

मार्गत्रयसद्भावं प्रमाणयन्ति भक्तिमार्गस्येति।
भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चय:।।२।।
''द्वौ भूतसर्गा''वित्युक्ते: प्रवाहोपि व्यवस्थित:।
वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थिता।।३।।

कथनादिति। श्रीभागवतगीतादौ। अत्र भक्तिरूपकार्येण कारणं पुष्टिरस्तीति निश्चीयते। इदं धर्मिनिष्ठं पुष्टिमार्गे प्रमाणमुक्तम्। ''द्वौ भूतसर्गो लोकेस्मिन् दैव आसुर एव चे'' त्याद्युक्ते: प्रवाहाख्योपि मार्ग: प्रमाणसिद्धोस्तीति निश्चीयते। काण्डत्रयात्मकवेदस्य[5] विद्यमानत्वाच्छ्रूयमाणत्वान्मर्यादामार्गेपि सप्रमाणत्वं सिद्धम्।।३।।

त्रयाणामसङ्कीर्णमितरेतरभेदकं लक्षणमाह **कश्चिदि**ति।

कश्चिदेव हि भक्तो हि ''यो मद्भक्तं इतीरणात्।
सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चय:।।४।।

---

१ मुक्तिदायिने। २ पार: संसारस्तदुत्तारकायेत्यर्थ:। ३ प्रवाहेतिनास्ति। ४ अत:। ५ वेदेति नास्ति क्वचित्।

न सर्वोत: प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदत:।

''यदा यस्ये''ति वचना''न्नाहं वेदै''रितीरणात्।।५।।

''मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्त: स मे प्रिय'' इति वचनाद्भक्तिमार्गीया विरला एव भवन्ति। न हि भगवत्प्रियत्वं स्वल्पसाध्यम्, अत: प्रवाहाद्भिन्न: पृथगेव। प्रवाहस्य सर्वसाधारणत्वाद्भक्तेरनुग्रहैकलभ्यत्वान्महानेव भेदोस्तीति मन्तव्यम्। मर्यादयाप्यसङ्कीर्णत्वं वेदाच्च भेदत इत्यारभ्य निश्चय इत्यन्तेनाह। **'यदा यस्ये'ति श्रीभागवते।** ''नाहं वेदैर्न तपसे''ति गीतायाम्।[१] सर्वत्र भगवच्छास्त्रादौ भक्तिमार्गस्य कर्माद्यपेक्षयोत्तमत्वकथनात् पुष्टिमार्गो भिन्नोस्तीति निर्धारितम्। अभेदे तूत्कर्षवैयर्थ्यात्।।५।।

मर्यादाप्रवाहयोर्भक्तावन्तर्भावमाशङ्क्य निषेधन्ति मार्गैकत्वेनेति।

मार्गैकत्वेन चेदन्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ।

न तद्युक्तं सूत्रतो हि भिन्नो युक्त्या हि वैदिक:।।६।।

जीवदेहकृतीनां च भिन्नत्वं नित्यता श्रुते:।

यथा तद्वत्पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधत:।।७।।

प्रमाणभेदाद्भिन्नो हि पुष्टिमार्गो निरूपित:।

अन्त्यौ प्रवाहमर्यादे। **तनू** भक्तिं प्रत्यङ्गभूते, साधने इति यावत्। एवंविधे भूत्वा भक्त्यागमौ भक्तिशास्त्ररूपौ **मतौ** चेत्, **तन्न** युक्तमिति योजना। तत्कुतो नेत्याशङ्क्याह सूत्रतो हीति। वैदिको मर्यादामार्गो भिन्न:, भक्ते: पृथगित्यर्थ:। अत्र प्रमाणं ब्रह्मसूत्राणि। द्वितीयं तदर्थानुरुद्धा युक्तय: साधकवाक्यानि। तत्र ''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'' इत्यादिषु जीवब्रह्माभेद: प्रतिपाद्यते। भक्तौ तु तवाहमिति स्वस्वामिसम्बन्ध: प्रतिपाद्यते, अत: स्फुटो भेद:। युक्तयस्तत्तर्कास्ते च शास्त्र(प्र)सिद्धा ज्ञेया:। भक्तेरपि शाण्डिल्यसूत्रतो वैलक्षण्यं श्रूयते। तथाहि। ''अथातो भक्तिजिज्ञासा'' इत्युपक्रम्य ''सा परानुरक्तिरीश्वरे'' ''द्वेषप्रतिपक्षाद्रसभावाच्च राग'' इति द्वितीयतृतीयसूत्राभ्यां स्नेहरूपत्वमुक्तम्। तच्च कर्मज्ञानकाण्डादिविरुद्धमेव। अतोपि मर्यादाया: पृथक्त्वम्। हिशब्द उभयत्रापि प्रसिद्ध्यर्थ:। भेदकान्तरमप्याह जीवेति। आसुरजीवानां दैत्यदानवप्रभृतीनामपि वेदेधिकारप्रवृत्ती[२] दृश्येते। भक्तिमार्गे तेषां गन्धोपि न। प्रत्युत तद्वत्सु द्वेष एव, अतो जीवभेद: स्फुट:। वेदे स्त्रीशूद्रादीनामनधिकार: श्रूयते। भक्तौ तु ब्राह्मणादिसाधारण्येन स[३] दैवजीवमात्रस्य। ''देवोऽसुरो मनुष्यो वे''ति वचनात्। ''यो मद्भक्त: स मे प्रिय:'' ''मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य'' इत्यादौ तथैवाम्नानात्। भक्तौ स्नेहनिबन्धनकृतेरियत्ताया अभावाद्देहवत् कृतिभेदोपि स्फुट:। किञ्च। श्रुतेर्वेदस्य नित्यता। अकरणे प्रत्यवायजनकत्वात्। श्रुतिपदेन तदुक्तधर्मा उच्यन्ते। उक्तप्रकारेण वेदे अन्यमार्गापेक्षया यथा भेद:, **तद्वत्** तथैव पुष्टिमार्गे

---

१ भक्त्या त्वनन्ययेति गीतायाम्। २ अधिकावृत्ती अधिकारप्रवृत्तिरिति, पाठद्वयम्। ३ दैवेति पाठ:।

भेद इति शेष:। कथमित्यपेक्षायां **द्वयोरपि।** द्वयोर्ममर्यादाप्रवाहयोर्निषेधत: तल्लक्षणाप्रवेशादित्यर्थ:।[१] **प्रमाणभेदादिति।** वस्तुसाधकं प्रमाणमित्युच्यते। वेदे तु स्वत:प्रामाण्यम्। तद्विरोधित्प्रत्यक्षादीनामप्यतथात्वम्। पुष्टौ तु धर्मितदनुग्रहभक्तनुभवातिरिक्तप्रमाणाभावात् साधकभेदादपि पुष्टिमार्गो भिन्नो भवतीत्यर्थ:। अत एवैतन्मार्गीयाणां वैलक्षण्यं भगवतैवोक्तम्। तथाहि ''केवलेन हि भावेन'' ''ते नाधीतश्रुतिगणा'' इति। नहीदं मर्यादयोपपद्यते, कुतस्तरां तुच्छ: प्रवाह:।।७।।

प्रवाहमार्गमाह **सर्गभेदमिति।**

सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतम्।।८।।

इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरि:।

वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चय:।।९।।

सर्गशब्देन लौकिक: प्रवाह उच्यते। अत्रापि स्वरूपाङ्गक्रियाशब्दैर्यथाक्रमं **जीवदेहकृतयो** विवक्षिता:। स्वरूपं जीव:, अङ्गं देह:, क्रिया कृति:, एतैर्युतं विशिष्टमित्यर्थ:। ननु प्रवाह: सर्ग उक्त:। स च पुष्टिमर्यादयोरप्यस्तीति[२] कथं वैलक्षण्यमितिचेत्, तत्राह इच्छामात्रेणेति। ''सोऽकामयत, बहु स्यां प्रजायेयेति, स द्वितीयमैच्छत्, स हैतावानास'' इत्यादिभिर्भगवान् सङ्कल्पमात्रेण **मनसैव** बाह्योपादानकारणानपेक्षेण प्रवाहाख्यं सृष्टवान्। मनस: सृष्टिकर्तृत्वं सर्वस्यापि मनोजन्यत्वं श्रुतिराह ''असतोऽधिमनोऽसृजत, मन: प्रजापतिमसृजत, प्रजापति: प्रजा असृजत, तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठित''मिति ''मनसो ह्येव खल्विमानी भूतानि जायन्ते'', ''मनसो वशे सर्वमिदं बभूव'' ''कामस्तदग्रे समवर्तताधी'' त्यादि ज्ञेयम्। एवं कारणभेदान्न सर्गैक्यम्। मर्यादासर्गमाह वचसेति। वाण्या मूलभूतवागिन्द्रियेण वेद एव मार्गस्तं सृष्टवान्। हिशब्द: पुराणादिप्रसिद्ध्यर्थ:। पुष्टिसर्गमाह पुष्टिमिति। साक्षादव्यवहितस्वरूपेणेत्यर्थ:। **इतिनिश्चय:।** ''फलमत उपपत्ते''रित्यादिनेश्वर एव शुभाशुभफलदातेति सिद्धम्।।९।।

तत्र मार्गत्रये केन रूपेण कुत्र फलदानमिति संशये निश्चितमाह मूलेच्छात इति।

मूलेच्छात: फलं लोके वेदोक्तं वैदिकेपि च।

कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकता।।१०।।

''तानहं द्विषतो'' वाक्याद्भिन्ना जीवा: प्रवाहिण:।

अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशत:।।११।।

तस्माज्जीवा: पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशय:।

भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्।।१२।।

लोके प्रवाहाख्ये मार्गे, **मूलेच्छा** पुष्टिमर्यादातिरिक्तसाधनसाध्यफलभावनेच्छा,

---

१ लक्षणप्रवेशादिति पाठ:। २ पुष्टिमार्गीययोरिति पाठ:

यथा ''तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु'' इति। **वैदिके** मार्गे **वेदोक्तं** तत्तकाण्डाभिनिविष्टस्य तत्तदनुरूपं स्वर्गादिकं फलं तत्तत्साधनसापेक्षेच्छात इत्यर्थः। **कायेन** साक्षात् स्वरूपेण सच्चिदानन्दविग्रहेण। स्वरूपमात्रनिष्ठलीलाभिनिविष्टभक्तभावसापेक्षेच्छातः **फलं पुष्टा**वित्यर्थः। **भिन्ना** इति। दैवाद्विना आसुरा इत्यर्थः, ''द्वौ भूतसर्गौ'' वित्युक्तत्वात्। उक्तरीत्या पुष्टेर्धर्मिमात्रनिष्ठत्वेनेतरापेक्षयाभ्यर्हितत्वं ज्ञेयम्। **अत एवेति**। यत उक्तरीत्यान्योन्यं लक्षणाप्रवेशाद्वैलक्षण्यमत एव इतरौ मर्यादाप्रवाहौ पुष्टेः परस्परं च **भिन्नौ। अन्त**पदेन पर्यवसानमुच्यते। तेन सान्तौ अन्तसहितौ। कस्य कुत्रेत्याकाङ्क्षायां **मोक्षप्रवेशतः** मोक्षात् प्रवेशाच्चेत्यर्थः। प्रवेशपदेन प्राकृतो लयो विवक्षितो, न मोक्षः। तत्र वैदिकस्य मोक्षे पर्यवसानम्, प्रवाहस्य (प्रकृतौ) लय इति विवेकः। यथा द्वयोः सान्तत्वम्, न तथा पुष्टेः, मोक्षोत्तरकालमपि विद्यमानत्वात्। अत एवोक्तं ''आत्मारामाश्च मुनयः'' इत्यादौ। यतो मुक्तानामपि अधिकारो भक्तौ। अत एव तन्मार्गीया जीवाः भिन्नाः, ब्रह्माण्डादपि बहिर्भूताश्चेत्, किं वाच्यं मर्यादाप्रवाहातिरिक्तत्वे। अत एव वाराहेप्युक्तम्, ''भिन्नैव काचित् सा सृष्टिर्विधातुर्व्यतिरेकिणी''ति। एवंविधपुष्टिस्थजीवानां सर्गो भगवता स्वात्मभजनार्थमेव कृत इति सङ्गच्छते, नत्वन्यथापीत्यर्थः।।१२।।

एवं विधभक्तानां सर्वांशेन भगवत्साम्यमाह **स्वरूपेणेति।**

स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च।
तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा।।१३।।
तथापि यावता कार्यं तावत्तस्य करोति हि।

स्वरूपमन्तरात्मस्वरूपम्। यथा काष्ठं वह्निसाद्भवति, एवं भक्ता अपि स्वरूपैकनिष्ठास्सन्तस्तदभिनिष्टास्तदात्मत्वमेवाभिपद्यन्ते। अत एवोक्तं ''यो यच्छ्रद्धः स एव सः'' इति। यथा भगवदवतारो धर्मसद्रक्षणार्थम्, तद्विरुद्धोत्सादनार्थं च, एवं भक्तानामपि अवतारो **जीवोद्धारार्थमेवेत्यवतारेणापि** साम्यम्। लिङ्गं वेषस्तच्चिह्नानि सर्वाण्यपि। अद्यथा। ''तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम्। पीताम्बरं पुष्करमालिन'' मित्यादि। **गुणाः** पतितपावनत्वादि, भगवच्चेष्टितान्यपि विज्ञेयानि। तथापीति। एवं सर्वांशेनान्यूनत्वेपि यावता न्यूनत्वादिना स्वरमणसिद्धिः, तावदेव तस्य स्वापेक्षया सेवकत्वसिद्ध्यर्थमुभयरसार्थं च तारतम्यं करोति। अत एवेदमपि सङ्गच्छते, ''नोद्धवोण्वपि मन्न्यूनः'', ''मद्भक्तपूजाभ्यधिके''ति, ''न पारयेहं निरवद्यसंयुजा'' मित्यादि। ''ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहं'' मित्यादौ प्रसिद्ध्यर्थो हिशब्दः।।१३।।

ते हि द्विधा शुद्धमिश्रभेदान्मिश्रास्त्रिधा पुनः।।१४।।
प्रवाहादिविभेदन भगवत्कार्यसिद्धये।

ते हीति। ते पूर्वोक्तास्त्रयोपि मार्गा **द्वेधा** द्विप्रकारकाः, ये मार्गान्तरसंवलितास्ते मिश्राः, ये पुनस्तन्मात्रास्ते शुद्धाः। मिश्रणमपि प्रत्येकं त्रिभिस्त्रयाणामपीत्येकैकशस्त्रिप्रकाराः। एवं भेदानां प्रयोजनं किमित्याकाङ्क्षायां भगवत्कार्यसिद्धिरेवेति मतम्। तच्च कार्यं रमणरूपमेव। ''क्रीडाभाण्डमिदं विश्वम्'', ''एकाकी स न रमत'' इत्यादौ प्रसिद्धम्।।१४ १/२।।

पुष्टेर्भेदानाह **पुष्ट्येति**।

पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः।।१५।।
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभाः।

पुष्टिस्थास्तु पूर्वमनुगृहीता एव भवन्ति। पुनरनुग्रहान्तरं यदा तेषु प्रविशति, तदा ते पूर्वपुष्ट्यतिरिक्तपुष्टिसद्भावात् **पुष्ट्या विमिश्रा भवन्ति।** तल्लक्षणं **सर्वज्ञा** इति। एवंविधत्वं प्रह्लादादौ प्रसिद्धम्। **प्रवाहेण मिश्रिताः** लोकवेदक्रियारता भवन्तीति तेषामेतल्लक्षणम्। मर्यादया मिश्रा **गुणज्ञाः** भगवन्माहात्म्याथातथ्यज्ञा इति लक्षणम्। **प्रेम्णा** स्वरूपपैकनिष्ठा इति लक्षणम्। ते शुद्धपुष्टिमार्गीयास्तेत्यन्तदुर्लभा एवेत्यर्थः।।१५ १/२।।

एवं सर्गस्तु तेषां हि फलं त्वत्र निरूप्यते।।१६।।
भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद्भुवि।
गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत्।।१७।।

एवमिति। उक्तप्रकारेण तेषां त्रयाणां सर्गः सहेतुकः निरूपित इति शेषः। अत्र शुद्धमिश्रपुष्टौ फलं निरूप्यते **भगवा**निति। **गुणाः** ऐश्वर्यादयो धर्माः, **स्वरूपं** धर्मी। भवन्ति भावा अस्मिन्निति भूरन्तःकरणं विवक्षितम्, तदुपलणितहृदयदेशो वा। तेनायमर्थः। **भगवानैश**्वर्यादिषड्गुणोपेतो यस्य भक्तस्यान्तःकरणे **यथा** येन भावेन प्रकटो भवति, तत्प्रियं कर्तुं तत्स्वरूपमेव फलमित्यर्थः। ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैवे''ति प्रतिज्ञानात्।।१७।।

आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित्।
अहङ्कारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि।।१८।।
न ते पाषण्डतां यान्ति न च रोगाद्युपद्रवः।
महानुभावाः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे।।१९।।
भगवत्तारतम्येन तारतम्यं भजन्ति हि।
लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा।।२०।।
वैष्णवत्वं हि सहजं ततोन्यत्र विपर्ययः।
सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास्तथापरे।।२१।।
चर्षणीशब्दवाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु।

क्षणात् सर्वत्वमायान्ति रुचिस्तेषां न कुत्रचित्।।२२।।

तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र सकलं फलम्।

आसक्ताविति। पुष्टिस्थस्य **अहङ्कारे** तत्पूर्वककार्ये, **अथवा लोके** भजनविरुद्धे **आसक्तौ** सत्यां तद्दोषपरिहाराय, अत एव **तन्मार्गस्थापनाय** तत्र स्थिरीकरणाय ब्राह्मणादिद्वारा **भगवानेव क्वचित्**, न सर्वत्र, शापमन्तरायापादकं **दापय**ति। पुनरेवं कदापि न कुर्यामिति यथा तस्य मनसि सततमनुवर्तेत। यथेन्द्रद्युम्नस्यागस्त्यमुखाद्गजेन्द्रत्वम्। एवं शिक्षाकरणे भक्ता: **पाषण्डतां न यान्ति।** नापि तज्जनितापराधभोगाय[1] रोगाद्युपद्रवस्तप्तीडानुभव:। एवंविधा: शास्त्रोल्लङ्घनाद्भवन्ति। ये **पुनर्महानुभावा:** नारदादयस्ते **प्रायेण बाहुल्येन,** भगवदधीनत्वात् प्रायिकत्वोक्ति:, शुद्धत्वेहेतवे देहान्त:करणादिशुद्ध्यर्थं **शास्त्रं** भगवदीयं गीताभागवतादिकं **भजन्ति** सेवन्ते सततमवगाहन्त इत्यर्थ:। किञ्च। येषु-येषु भक्तेषु यथा-यथा भगवदाविर्भाव:, तेन तारतम्येन स्वस्मिन् तरतमभावमपि भजन्ते स्वीकुर्वन्ति, न तु स्वस्मिन्नाधिक्यं सदप्युद्भावयन्ति। सर्वदा भगवत्सम्बन्धिषु नम्रा एव भवन्तीत्यर्थ:। तेषु महानुभावेषु यल्लोकवेदकुलप्राप्ताचारदर्शनमात्रेण लौकिकत्वं वैदिकत्वं च व्यवह्रियते, **तत्कापट्यात्** अज्ञानादेव। **नान्यथा** अन्यप्रकारेण नेत्यर्थ:। वैष्णवत्वं तेषु सह्रजं नैसर्गिकम्, तल्लक्षणसद्भावात्। **वैष्णवलक्षणं** श्रीभागवतविष्णुपुराणादितोवगन्तव्यम्। तत: महानुभावेभ्य: अन्यत्र अन्येषु विपर्यय: कापट्याद्वैष्णवत्वम्। लौकिकत्वं वैदिकत्वं सहजमित्यर्थ:। **सम्बन्धिनस्त्विति। ये जीवा:** सम्बन्धिनो भगवद्विमूत्यंशलेशसम्बन्धवन्त स्तथापरे अन्ये केवलप्रवाहस्थाश्च ये ते सर्वे **चर्षणीशब्देनोच्यन्ते,** परिभ्रमणस्वभावात्। अत एव ते सर्वेपि क्षणादेव यादृश: सङ्ग:, तादृशा एव सर्ववर्त्मसु प्रविष्टा: सन्त: **सर्वत्वं** तत्तन्मार्गानुसारित्वं यान्ति। **तेषां रुचिरत्याग्रह:** कुत्रापि नास्ति। अत एव **तेषां क्रियानुसारेणैव सर्वत्र** यत्र यदा रुचिस्तत्र वर्तमानानां **फलं सकलं,** कलया सह, केशमात्रं, न पूर्णमित्यर्थ:।।२२ १/२।।

प्रवाहस्थान्निरूपयन्ति प्रवाहस्थानिति।

प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतान्।।२३।।

जीवास्ते ह्यासुरा: सर्वे ''प्रवृत्तिं चे''ति वर्णिता:।

ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदत:।।२४।।

दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता ह्यज्ञास्ताननु ये पुन:।

पूर्ववदेन **स्वरूपं** जीवात्मा, **अङ्गं देह:, क्रिया** कृति:, एतै: **युतान्** विशिष्टानित्यर्थ:। **ते** प्रवाहमात्रानुसारिणो ये जीवास्ते आसुरा ज्ञेया:, ''प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुरा''

१ भोगरोगेति पाठ:।

इति वचनात्। **ते च द्विप्रकारका:।** एके **अज्ञा:, स्वत:** किमपि न जानन्ति, आसुराणां दुष्टाचरणं दृष्ट्वा स्वयमाचरन्ति। एके पुनर्दुर्ज्ञा:, दुष्टमात्मपातकारणमेव कर्तुं जानन्ति, नतु भगवत्प्राप्तिसाधनमपि। **ते च भगवता प्रोक्ता:** ''प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे''त्यादिना।।२४ १/२।।

प्रासङ्गिकमाह **प्रवाहेऽपीति।**

प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थस्तेन यज्यते।।२५।।

सोपि तैस्तत्कुले जात: कर्मणा जायते यत:।।२५ १/२।।

पुष्टिस्थो यदा दैवयोगादासुरसङ्गात्तन्मार्गे[2] प्रविशति, तदा **तेन** भावेन युज्यते लिप्तो भवति। तद्वस्त्रमालिन्यवत् प्रक्षालनस्थानीयभगवद्भक्तभाविसंसर्गाच्छुध्यत्येवेति मन्तव्यम्। अन्यथा विरोध: स्यात्। **सोपि** तद्धर्मैस्तेषां **कुले जात** उत्पन्नो भूत्वा पश्चात् स्वीयपुष्टिसंस्कारोद्बोधे सति तदर्थमेव यतिष्यत इति शेष:। जन्ममात्रं तु प्रारब्धकर्माधीनत्वादनिवार्यम्। अत एव भगवताप्युक्तं ''पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यत'' इत्यादिना। इत ऊर्ध्वं ग्रन्थत्रुटि:।।२५ १/२।।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा: पृथक् पृथगुदीरिता:।

कृतिना रघुनाथेन श्रीवल्लभपदेप्सुना।।१।।

इति श्रीवल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथानां कृतौ

पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवरणं सम्पूर्णम्।[3]

१ संसर्गात्। २ उक्तं च, ''प्रवाहो लौकिको धर्मो मर्यादा वेद ~~उच्यते~~। कृष्णे प्रेम च वै पुष्टिर्मार्गभेदस्त्रयोऽत्र हि। इत्यधिकम्।

श्रीकृष्णाय नमः।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा।

श्रीकल्याणरायकृतटीकासमेता।

श्रीविट्ठलेश्वरं नत्वा स्वेषां सफलसिद्धये।[१]

पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवृत्तिः क्रियते मया।।१।।

लोके कति मार्गाः कीदृशाः किं च तेषां फलमिति जिज्ञासूनां स्वकीयानां ज्ञानार्थं श्रीवल्लभाचार्याः पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण वक्तुं प्रतिजानते।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक्-पृथक्।

जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च।।१।।

पुष्टिर्नाम भगवदनुग्रहः फलप्रापकत्वात् फलार्थं मृग्यत इति स एको मार्गः। **प्रवाहो** नाम जन्मादिप्रवाहरूपः लौकिकफलप्रापकत्वात् सोपि मार्गः। **मर्यादा** वेदोक्तः कर्ममार्गः। एता **विशेषेण** व्यावर्तकधर्मेण पृथक्-पृथक् वक्ष्यामि। अत्र के व्यावर्तका दर्मा इत्याकाङ्क्षायामाहुः। भक्तिमार्गे जीवा भगवदनुगृहीता भिन्नाः। तेषां **देहाः** भगवच्चरणरेण्वादिनिष्पादिता भिन्नाः। तेषां क्रिया भगवत्परा भिन्नाः। एवं प्रवाहासक्ताः संसारिणो जीवा भिन्नाः, तेषां देहा अपि संस्कारादिरहिता भिन्नाः, तेषां क्रिया लौकिक्यो भिन्नाः। मर्यादामार्गे दैवा जीवा भिन्नाः, तेषां देहाः संस्कृता भिन्नाः, तेषां वेदोक्ताः क्रिया भिन्नाः। प्रवाहासक्तत्वेन प्रवाह एव प्रावाहिकाणां भेदकः। ''मद्भक्ता यान्ति मामपी''त्यादिवाक्याद्भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमप्राप्तिः फलम्। मर्यादामार्गे वेदोक्तकर्मभिर्निःकामानां तत्त्वज्ञानद्वारा अक्षरप्राप्तिः फलम्। सकामानां क्षयिष्णु स्वर्गादिः फलम्। प्रवाहस्थानां स्वकर्मानुसारि जन्मादिः फलम्। भिन्नैरेतैर्मार्गा अपि भिन्ना भवन्तीत्यर्थः।।१।।

वक्ष्यामि सर्वसन्देहा न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः।

भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः।।२।।

कथनस्य प्रयोजनमाहुः। यस्योक्तस्य श्रवणात् मार्गतत्साधनफलेषु **सन्देहा** न भविष्यतीत्यर्थः। मार्गसत्त्वे प्रमाणानि वक्तुं प्रथमं पुष्टिसत्त्वे प्रमाणमाहुः। ''ते नाधीतश्रुतिगणा'' इत्यादिना निःसाधनत्वेन निरूपितानां व्रजस्थितानां ''केवलेन हि भावेने''त्यादिवाक्यैः स्नेहनिरूपणात् भक्तिरूपस्य मार्गस्य कथनात् भक्तिकारणत्वेन पुष्टिर्निश्चीयत इत्यर्थः। ननु दानव्रतादिभिः भक्तेः श्रूयमाणत्वात् कथं भक्तिकारणत्वेन पुष्टिर्निश्चीयत इति चेत्, न, अनुग्रहव्यापारत्वेनैव दानादीनां भक्तिसाधकत्वात्।

१ स्वफलेति पाठः। सकलसिद्धय इति पाठः स्यात्।

ननु कथमेवम्? इत्थम्। पुष्टेर्भगवदनुग्रहरूपत्वेन भक्तेर्भगवदनुग्रहैकसाध्यत्वान्निःसाधनोनुग्रहः पुष्टिरित्युच्यते। साधनमिश्रभावात् साधनानुग्रहो भक्तिमार्गे मर्यादेत्युच्यते। अत एवोक्तमाचार्यैः **श्रीभागवततत्त्वदीपे** ''पुष्टिरत्र द्विरूपा हि मर्यादापुष्टिभेदतः। विश्वरूपस्तु मर्यादा द्वितीयो वृत्र उच्यत'' इति। तेन स ससाधनानुग्रह एव दानादिसाधनद्वारा भक्तिं जनयतीति नानुपपन्नं किञ्चित्। एतदेवोक्तं भक्तिहंसे श्रीमत्प्रभुचरणैः ''वरणे चास्ति प्रकारद्वयं मर्यादापुष्टिभेदेने''ति। प्रावाहिकभक्तिस्तु भक्तस्य फलार्थं भगवति सापेक्षत्वमात्रेण स्नेहाभावेन भक्तिमार्गे किञ्चिद्धर्मसाम्येन प्रावाहिकभक्तौ भक्तिपदप्रयोगात् पूजातुल्येति। तेन पुष्टिभक्तिरेव मुख्या। परमानुरागरूपत्वात्। ''सा परानुरक्तिरीश्वरे'' इति शाण्डिल्यसूत्रात्। मर्यादाभक्तिस्तु भक्तिदेशीया परमानुरागाभावात्। प्रावाहिकभक्तिस्तु सापेक्षतारूपेति पूजातुल्या, परं भक्तिमार्गसम्बन्धाद्भक्तिरूपेति। एतदेवोक्तं भक्तिहंसे ''भक्तिमार्गीयभक्तकृत(भक्ति)साम्प्रदायिकदीक्षापूर्वकं मोक्षसाधनत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिः प्रावाहिकी भक्तिरुच्यत'' इति। मर्यादामार्गस्थं ज्ञानमार्गस्थं[१] वा जीवं यदि भगवाननुगृह्णाति, तदा स पुष्टिमार्गं प्राप्य तन्मार्गीयं फलं प्राप्नोति। एतदेवोक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां ''उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यती''ति। तेनानुग्रहसाध्या भक्तिरिति सिद्धम्। अतः सुष्ठूक्तं ''भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चय'' इति।।२।।

प्रवाहसत्त्वे प्रमाणमाहुः।

''द्वौ भूतसर्गा''वित्युक्तेः प्रवाहोपि व्यवस्थितः।

वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थिता।।३।।

''द्वौ भूतसर्गौ लोकेस्मिन् दैव आसुर एव चे''ति वाक्यात् प्रवाहोपि सिद्धः। मर्यादासत्त्वे प्रमाणमाहुः। काण्डद्वयात्मकस्य वेदस्य श्रूयमाणत्वान्मर्यादामार्गोपि सिद्धः।।३।।

भक्तेः पुष्टिसाधकत्वमुक्त्वा दुर्लभत्वमाहुः।

कश्चिदेव हि भक्तो हि ''यो मद्भक्त'' इतीरणात्।

सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः।।४।।

कश्चिदेव हि भक्तो भवति, न सर्वः। अन्यथा ''यो मद्भक्त'' इति न वदेत्। भक्तेः पुष्टिसाधकत्वमुक्त्वा भक्तिभक्तयोरुत्कर्षस्यापि पुष्टिसाधकत्वमाहुः। सर्वत्र गीताश्रीभागवतादौ ''भक्त्या मामभिजानाति'', ''भक्त्या त्वनन्यया शक्य'' इत्यादि ''यत्कर्मभिर्यत्तपसे''त्यारभ्य ''सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेञ्जसे''त्यन्तेन। ''भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते''। ''मय्यनन्ते गुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि। नालं द्विजत्व''मित्युपक्रम्य ''प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बन''मित्यन्तेन। ''मय्यावेश्य''इत्यारभ्य ''ते मे युक्ततमा मता'' इत्यन्तेन, ''ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्'', ''कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति'', ''ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः'', ''ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्'', ''अहं भक्तपराधीन'' इत्युपक्रम्य,

१ प्रवाहमार्गस्थमिति पाठः।

''वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रिय: सत्पतिं यथे''त्यन्तेन, ''एता: पर''मित्यारभ्य, ''पुनाति भुवनत्रय''मिति श्लोकषट्केन च **उत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति** निश्चीयत इत्यर्थ:। नहि भक्तिर्भक्तत्वमेतादृशोर्थो भगवदनुग्रहं विना प्राप्यते।।४।।

पुष्टिमार्गीयस्य प्रवाहमर्यादामार्गस्थाभ्यां भेदमाहु:।

न सर्वोत: प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदत:।
''यदा यस्ये''ति वचना ''न्नाहं वेदै''रितीरणात्।।५।।

''यदा यस्यानुगृह्णति भगवनात्मभावित:। स जहाति मर्ति लोके वेदे च परिनिष्ठिता''मिति वाक्याद्यं भगवनानुगृह्णाति, स पुष्टिमार्गीयो भवति, न सर्व:। अत: प्रवाहाद्भेद:। हि युक्तोयमर्थस्ततो वैलक्षण्यात्। ''नाहं वैदे''रित्यारभ्य 'परन्तपे'त्यन्तेन अनन्यभक्त्यैव भगवान् ज्ञातुं द्रष्टुं शक्य:, नान्यसाधनैरिति भेदत: वैलक्षण्यात् **वेदाच्च भिन्न:,** वेदोक्तमर्यादामार्गस्थादपि पुष्टिमार्गस्थभक्तो भिन्न इत्यर्थ:।।५।।

मार्गैकत्वेपि चेदन्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ।
न तद्युक्तं सूत्रतो हि भिन्नो युक्त्या हि वैदिक:।।६।।

कस्यचित्पूर्वपक्षं निराकुर्वन्ति। तथाहि। ननु प्रवाहमर्यादामार्गयोरपि व्यवहारशुद्धिसाधकत्वेन भक्त्युपयोगात् अङ्गाङ्गिभावेनैको भक्तिमार्ग एवास्त्विति चेत्, न। मार्गैकत्वे स्वीक्रियमाणे प्रवाहमर्यादामार्गयोर्भक्तिफलेन फलवत्त्वं स्यात्, तदा तदङ्गत्वं स्यात्, तदेवाङ्गं भवति यत्प्रधानफलेन फलवद्भवति, न स्वत:, प्रयाजादिवत्, ''फलवत्सन्निधावफलं तदङ्ग''मित्यङ्गलक्षणात्। अत्र भक्तिमार्गे ''तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशा''दिति व्याससूत्रेण भगवत्परस्य मोक्ष: फलत्वेनोच्यते। तथा भक्तिमीमांसायां शाण्डिल्यसूत्रं ''तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशा''दिति। अस्यार्थस्तु। तस्मिन्नीश्वरे संस्था[१] भक्तिर्यस्य तस्यामृतत्वं फलमुपदिश्यते। ''ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेती''ति। एतद्विचारेण भगवत्प्राप्तिफलकत्वात्। प्रवाहमर्यादामार्गयो: जन्मादिसंसारस्वर्गादिफलकत्वात्। परम्परया निमित्तकारणत्वेन देशादिवदुपयोगात्तयोर्न भक्त्यङ्गत्वमिति। नाङ्गाङ्गिभावेन मार्गैकत्वसिद्धि:। युक्तिस्तु यदि मर्यादामार्गो भक्तिमार्गाभिन्न: स्यात्, तदा भक्तिमार्गीयमेव फलं दद्यात्। स्वर्गादिफलदातृत्वाद्वैदिको मार्गो भिन्न:। अलौकिकफलदातृत्वाभावात् प्रवाहो नोक्त:।।६।।

पुष्टिमार्गस्य भेदज्ञानार्थं तत्रत्यानां वैलक्षण्यमाहु:।

जीवदेहकृतीनां च भिन्नत्वं नित्यता श्रुते:।
यथा तद्वत्पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधत:।।७।।

यथा श्रुतेर्वेदस्य लौकिकवाक्यसमानत्वेन गृह्यमाणस्यापि **नित्यता,** ''स्वयम्भूरेष भगवान् देवो गीतस्त्वया पुरा। शिवाद्या ऋषिपर्यन्ता: स्मर्तारोऽस्य न कारका:''। ''वेदो नारायण: साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम'' इत्यादिवाक्यैर्लोकिकवाक्यभिन्नत्वं च तथा

१ निरोधरूपा।

ष्टिमार्गे ''जयति जननिवास'' इत्यादिवाक्यैर्लीलास्थानां **जीवदेहकृतीनां** नित्यत्वं भिन्नत्वं चेत्यर्थ:। अथवा। यथा श्रुते: ''ते-ते धामान्युश्मसि गमध्यै गाव'' इति वेदात् लीलास्थानां **जीवदेहकृतीनां नित्यता भिन्नत्वम्,** तद्वत् पुष्टिमार्गेपि लीलान्तर्गतौ जीवदेहकृतीनां नित्यता भिन्नत्वं च भवतीत्यर्थ:। **द्वयोरपि निषेधत** इति। ''स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिता''मितिवाक्येन भगवदनुग्रहानन्तरं प्रवाहमर्यादामार्गयोर्निषेधात् प्रवाहमर्यादामार्गस्थयोर्देहादीनां भिन्नत्वं नित्यता च न भगवतीत्यर्थ:।।७।।

प्रमाणभेदाद्भिन्नो हि पुष्टिमार्गो निरूपित:।

अत: करणात्। पुष्टिमार्गे भगवाननुग्रहेण पुष्टिमार्गस्थं यथा ज्ञापयति, यथा प्रेरयति तथा स प्रवर्तते। अत: पुष्टिमार्गे भगवान् प्रमाणम्, भगवदनुग्रहश्च। तस्मात् **प्रमाणभेदादपि पुष्टिमार्गो भिन्न** इत्यर्थ:।।७ १/२।।

सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतम्।।८।।

त्रयाणां सर्गभेदमाहु:। जीवदेहक्रियासहितं भिन्नं सर्गं प्रवक्ष्यामीत्यर्थ:।।८।।

इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरि:।
वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चय:।।९।।

त्रयाणां सर्गाणां भेदे किं निमित्तमित्याकाङ्क्षायामाहु:। **इच्छामात्रेण** सामान्येच्छया, मल्लादियुद्धवत् न तु स्वयं रन्तुम्, **हरि: मनसा प्रवाहं सृष्टवान्।** ''सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेये''तिश्रुते: **वचसा** वेदवाण्या वेदमार्गं सृष्टवान्। **कायेन** स्वरूपेण पुष्टिमार्गस्थान् सृष्टवान्। ''स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्, स हैतावानासे''ति श्रुते:। अत एव वाराहपुराणे ''भिन्नैव काचित् सा सृष्टिर्विधातुर्व्यतिरेकिणी''ति। अथवा। स्वयमाविर्भूय भक्तै: स्वसेवां कारयित्वा तन्मार्गं प्रकटितवानित्यर्त:।।९।।

त्रयाणां मार्गाणां फलभेदादपि भेदमाहु:।

मूलेच्छात: फलं लोके वेदोक्तं वैदिकेपि च।
कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकधा।।१०।।

मूलं सृष्टिकारणं ब्रह्म, तस्य सर्गादौ अस्यानेनैवमेवं करिष्यामीतीच्छा, तत एव प्रवाहस्थानां फलमित्यर्थ:। वैदिके कर्ममार्गे वेदोक्तं स्वर्गापवर्गरूपमपि फलं भवतीत्यर्थ:। पुष्टौ पुष्टिमार्गे कायेन स्वरूपेण फलं भगतीत्यर्थ:। तदुक्तं ''गोपीभि: स्तोभितोऽनृत्य''दित्यादिना। पुष्टौ प्रवाहमर्यादाभ्यां भिन्नेच्छातोपि जातं फलं कौमारलीलादिरूपेणानेकविधं भवतीत्यर्थ:।।१०।।

''तानहं द्विषतो'' वाक्याद्विजा जीवा: प्रवाहिण:।
अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशत:।।११।।

प्रमाणपूर्वकं प्रवाहस्थान् जीवान् भिन्नामाहु:। भूतसर्गे दैवजीवेषु भगवदनुगृहीता

१ तत्र।

भक्तिमार्गीया भवन्ति, अन्ये दैवा एव कर्मिण: वेदोक्तफलभाजो भवन्ति। अवशिष्टा जीवा: ''प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे''त्यारभ्य 'प्रद्विषन्तोभ्यसूयका' इत्यन्तेन निरूपितानां ''तानहं द्विषत: क्रूरा''नित्यारभ्य ''ततो यान्त्यदमां गति'' मित्यन्तेनाधमगतिमत्त्वेन निरूपणात् प्रवाहस्था आसुरा: पूर्वोक्तेभ्यो **भिन्ना** इत्यर्थ:। **अत एवेतरौ** पुष्टिमार्गीयमर्यादामार्गीयजीवौ एभ्यो भिन्नौ। तत्र हेतु:। **सान्तौ** अन्त: फलपर्यवसानं तत्सहितौ, कृत:, **मोक्षप्रवेशत इति।** मर्यादामार्गीयस्य मोक्षात् पुष्टिमार्गीयस्य लीलाप्रवेशत इत्यर्थ:।

तस्माज्जीवा: पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशय:।

भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथरा भवेत्।।१२।।

अत्युत्कर्षादपि पुष्टिमार्गीयाणां भेदमाहु:। यस्मात् सर्वोत्कृष्टास्तस्मात् पुष्टिमार्गीयजीवास्तेभ्यो **भिन्ना एवेत्यर्थ:**। विपक्षे बाधकं तर्कमाहु: **भगवद्रूपसेवार्थमिति।** यदि पुष्टिमार्गीया: सर्वोत्कृष्टा न स्यु:, तदा साक्षात्पुरुषोत्तमस्वरूपसेवार्थं **तत्सृष्टिर्न भवेत्।**

शुद्धपुष्टिमार्गीयाणां सेवार्थं सहकारियोग्यतामाहु:।

स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च।

तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा न क्रियासु वा।।१३।।

लीलासृष्टेर्भगवद्रूपत्वात् स्वरूपसाम्यम्। यथा भगवदवतार: प्रादुर्भावो न जीववज्जन्म तथा मुख्यभक्तानामपीत्यवतारसाम्यम्। अलौकिकत्वज्ञापकस्य भगवता समं नृत्यादिसामर्थ्यस्य विद्यमानत्वात् चिह्नसाम्यम्। गुणा: सौन्दर्यादयस्तत्साम्यं स्पष्टमेव। तेन तासां **क्रियासु स्वरूपे देहे वा न तारतम्यमित्यर्थ:।** भगवतो लीलान्त:पातिनां भक्तानां च स्वरूपादिभिस्तुल्यत्वम्, न तूत्कर्षापकर्षाविति श्लोकार्थ:।।१३।।

तथापि भगवान् स्वार्थं तारतम्यं करोतीत्याहु:।

तथापि यावता कार्यं तावत्तस्य करोति हि।

स्वरूपादेस्तुल्यत्वेपि भगवान् स्वस्य कार्यं रमणं स्वस्य भक्तानां च यावता तारतम्येन सिध्यति, तावत्तारतम्यं प्रकटयति। हि युक्तोयमर्थ:। उत्कर्षापकर्षवैचित्र्यैर्विना समग्ररमणासिद्धे:। अत एव बाललीलादयो युक्तरूपा भवन्तीति दिक्।।१३ १/२।।

एवं विशेषलीलास्यास्साधनानि प्रकारं चोक्त्वा सामान्यलीलया: साधनानि

प्रकारं चाहु: ते हीत्यारभ्य, भवेदित्यन्तेन।

ते हि द्विधा शुद्धमिश्रभेदान्मिश्रास्त्रिधा पुन:।।१४।।

प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये।

पुष्ट्या विमिश्रा: सर्वज्ञा: प्रवाहेण क्रियारता:।।१५।।

मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धा: प्रेम्णातिदुर्लभा:।

एवं सर्गस्तु तेषां हि फलमत्र निरूप्यते।।१६।।

भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद्भुवि।

गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत्।।१७।।

ते पूर्वोक्ता: त्रयोपि मार्गा: **द्विधा** द्विप्रकारा: **शुद्धमिश्रभेदात्। अन्यमार्गाधर्मसंवलिता** मिश्रा:, तदसंवलिता: शुद्धा:। मिश्रा अपि परस्परं त्रयाणां मिश्रणेन प्रत्येकं त्रिप्रकारा:। एवं भेदानां प्रयोजनमाहु: **भगवत्कार्यसिद्धय** इति। ''क्रीडाभाण्डमिदं विश्व''मित्यादिवाक्यै: विश्वस्य क्रीडार्थत्वात्। पुष्ट्यादीनां त्रयाणां स्वत: परत: मिश्रणे ज्ञापकान् धर्मानाहु: **पुष्ट्या।।। दुर्लभा:।** पूर्वं सामान्यतोनुगृहीता विशेषानुग्रहं प्राप्ता: **पुष्ट्या विमिश्रा:।** ते भगवदभिप्रायादिसर्वज्ञातारो भवन्ति, नारदादयो इव, सर्वज्ञत्वमेव तेषां लक्षणं। पुष्टिस्था मर्यादामिश्रिता: भगवत्धर्मज्ञातारे भवन्ति, कविप्रभृतयो नवयोगेश्वरा इव। पुष्टिस्था: प्रवाहमिश्रिता: यत्किञ्चिद्भगवद्धर्मं ज्ञात्वा तीर्थाघटनपरा भवन्ति। प्रवाहस्था: पुष्टिमिश्रिता: भगवद्भजनानुकूलक्रियानुसारीणोभवन्ति। प्रवाहस्था: मर्यादामिश्रिता: सत्कर्मकरतारो भवन्ति। प्रवाहस्था प्रवाहमिश्रिता: केवलं लौकिकक्रियारता भवन्ति। त एव आसुरा:। मर्यादामार्गीया: पुष्टिमिश्रिता: माहात्म्यज्ञानात् भगवत्प्रीत्यर्थं कर्मकर्तारो भवन्ति। मर्यादामार्गीया: मर्यादामिश्रिता: स्वर्गाद्यर्थं कर्मकर्तारो भवन्ति। मर्यादामार्गीया: प्रवाहमिश्रिता: लौकिकार्थं कर्मकर्तारो भवन्ति। **प्रेम्णा स्नेहेन शुद्धा:** प्रेमविषयातिरिक्तस्फूर्तिरहिता: ते शुद्धपुष्टिस्था:। तेऽपिदुर्लभा इत्यर्थ:। **भगवत्कार्यसिद्धये** एवंप्रकारेण तेषां सर्गो निरूपित:। हि युक्तोयमर्थ:। वैचित्र्यं विना रमणासिद्धे:। तेषां फलमत्र निरूप्यते। तेषां फलमाहु: भगवानेवेति। धर्मधर्मिणोरभेदात् सर्वेषां धर्मधर्मिरूपेण **भगवानेव फलं स यथा भुवि** भक्तानां गृहादौ हृदये च यथा प्रकटो भवेत् **गुणस्वरूपभेदेन,** भक्तानां वा गुणस्वरूपभेदेन स्वरूपैकनिष्ठानां पुष्टिमार्गीयाणां स्वरूपेण आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपेण प्रकटो भूत्वा फलं ददाति, धर्मज्ञानादिपरेषु धर्मादिरूपेण स्थित्वा यथा फलं ददाति तथा

तत्तत्फलं तेषां भवतीत्यर्थः। यद्वा। भगवानिति। गुणा ऐश्वर्यादयो धर्माः, स्वरूपं धर्मि। भगवानैश्वर्यादिषड्गुणयुक्तो यस्य भक्तस्यान्तःकरणे यथा येन भावेन प्रकटो भवति तत्प्रियं कर्तुं स्वरूपमेव तस्य फलमित्यर्थः। ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैवे''ति प्रतिज्ञानात्।।१७।।

प्रमेयप्रमाणलीले तयोः प्रकारांश्चाभिधाय भक्तिमार्गविरोधं परिहर्तुं **आसक्तावित्यारभ्य** सार्धश्लोकत्रयेण समादधते।

आसक्तौ भगवनोव शापं दापयति क्वचित्।
अहङ्कारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि।।१८।।
न ते पाषण्डतां यान्ति न च रोगाद्युपद्रवः।
महानुभावाः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे।।१९।।
भगवत्तारतम्येन तारतम्यं भजन्ति हि।
वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा।।२०।।
वैष्णवत्वं हि सहजं ततोऽन्यत्र विपर्ययः।

ननु भक्तिमार्गीयाणां कथमन्येन (शापेन) पराभव इत्याकाङ्क्षायामाहुः **भगवानेवेति।** पुष्टिस्थस्य लोके लौकिके **आसक्तौ** सत्यां अथवा अहङ्कारे जाते अनयोः भजनेन्तरायरूपत्वात् भगवानेव अन्येन शापं **दापयति क्वचिदेव।** यथा चित्रकेतौ। क्वचित् स्वसामर्थ्यादिज्ञापनेनाहङ्कारादिकमेव दूरीकरोति। यथार्जुनादेर्ब्राह्मणपुत्रानयनादौ। भक्तिमार्गस्थापनाय। हि यस्मात् अन्यथान्येपि बहिर्मुखाः स्युः। एवं भगवता स्वेषां शिक्षार्थं दण्डे कृते दण्डभयात् ते भक्तिमार्गीयाः **पाषण्डतां न यान्ति** लोकवेदभक्तिमार्गविरुद्धाचरणं न कुर्वन्ति। विरुद्धाचरणाभावात् तेषां **रोगाद्युपद्रवो** न भवति। तर्हि भक्ता अपि साधारणजनतुल्या एव किमित्याकाङ्क्षायामाहुः। ते भक्तिमार्गीया **महानुभावाः** प्रह्लादाम्बरीषादय इव, यदि ते शुद्धाः स्युः। **शुद्धत्वं** नाम भक्तिमार्गविरुद्धधर्मराहित्येन कायवाङ्मनोभिस्तत्परत्वम्। तेषां शुद्धत्वप्रयोजकं **शास्त्रम्**। तच्छास्त्रं ''श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उलङ्घ्य वर्तते। आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोपि न मे प्रियः''। ''अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ नित्युक्तस्य योगिनः''। ''मन्मना भवे''त्यादिभगवद्वाक्यम्। तदुक्तं ये कुर्वन्ति, ते शुद्धत्वात् **महानुभावा** भवन्तीत्यभिप्रायेणोक्तं प्रायेणेति। तत्र हेतुः। भगवदिति। ''ये भजन्ति तु मां भक्त्ये''ति वाक्यात् भक्त्या भजनेन यथा-यथा षड्गुणयुक्तो भगवान् तेषां

हृदये प्रविष्ट ऐश्वर्यादीन् प्रकटयति, तथा-तथा तारतम्यं भजन्ति उत्कृष्टा भवन्तीत्यर्थः। लौकिकेषु इदानीं प्रसिद्धेषु (महेता)नरसिंहाख्यादिष्वपि प्रसिद्धिबोधको हिशब्दः। ननु एतादृशानां भगवद्भक्त्यैव सर्वसिद्धौ वेदोक्तकर्मकरणं लौकिककरणं च किमर्थमित्याकाङ्क्षायामाहुः। उत्कृष्टानां भगवद्भक्तानां वेदोक्तकर्मकरणं लौकिकव्यवहारकरणं च ''सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत। कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रह''मिति भगवद्वाक्यात् लोकसङ्ग्रहार्थमेव वेदोक्तकर्माणि लौकिकव्यवहारं च कापट्यं विधाय स्वस्य बहिः कर्मासक्तिं दर्शायित्वा कुर्वन्ति, **नान्यथेत्यर्थः।** तर्हि तेषां मुख्यः कर्तव्यो धर्मः क इत्याकाङ्क्षायामाहुः **वैष्णवत्वं** भक्तिमार्गीयदीक्षापूर्वकं भगवद्भजनं सहजं आदरेण कर्तव्यो मुख्यो धर्मः। **ततोन्यत्र** अन्यधर्मेषु एत**द्विपर्यय** इत्यर्थः। हि युक्तोयमर्थः। यो यस्य दासः तस्य तद्भजनमेव मुख्यो धर्म इति।।१४।।

भक्तिमार्गीयाणां व्यवस्थामुक्त्वा तत्सम्बन्धिनां उदासीनानामन्येषां च व्यवस्थामाहुः **सम्बन्धिनस्त्विति** श्लोकद्वयेन।

सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास्तथापरे।।२१।।
चर्षणीशब्दवाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु।
क्षणात् सर्वत्वमायान्ति रुचिस्तेषां न कुत्रचित्।।२२।।
तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र सकलं फलम्।

भक्तिमार्गीय**सम्बन्धिनो** ये तु अदीक्षिताः तथा भक्तिमार्गीयासम्बन्धिः **प्रवाहस्था** ये च अदीक्षिताः, ते चर्षणीशब्दवाच्याः सर्वमार्गेषु परिभ्रमणशीलत्वात् ते सर्ववर्त्मसु सर्वेषु मार्गेषु क्षणात् अल्पकालादेव तन्मार्गीयसङ्गं प्राप्य तन्मार्गधर्माचरणात् तन्मार्गीयसदृशा भवन्ति, नतु तेषां कुत्रापि रुचिः स्नेहोऽस्ति। तेषां तत्तन्मार्गीयक्रियानुरूपं कामितं फलं भवतीत्यर्थः।।२०।।

लक्षणप्रमाणाभ्यामासुरान् जीवानाहुः **प्रवाहस्थानित्यारभ्य** श्लोकद्वयेन।

प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वारूपाङ्गक्रियायुतान्।।२३।।
जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे ''प्रकृतिं चे''ति वर्णिताः।
ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदतः।।२४।।
दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता ह्यज्ञास्ताननु ये पुनः।

प्रवाह एव तिष्ठन्ति स्वोदरपोषणमात्रपराः, स्वरूपदेहक्रियातत्पराः, न तु धर्मादिपराः, ते जीवा आसुरा ज्ञेयाः। ते च ''**प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे**''त्यादिना

भगवता **वर्णिता:।** ते आसुरा: द्विप्रकारा: **अज्ञदुर्ज्ञभेदात्।** ''प्रवृत्तिं चे''त्यादिनोक्ता **दुर्ज्ञा:। तान् ये** अनुसरन्ति तदुक्तकारिणो भवन्ति, ते तु **अज्ञा:।**।२४ १/२।।

ननु आसुराणामपि भक्ति: शृयते, सा कथं सम्भवतित्याशङ्कायां समाधानमाहु:।

प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्यिस्थस्तैर्न युज्यते।।२५।।

सोपि तैस्तत्कुले जात: कर्मणा जायते यत:।।२५ १/२।।

वस्तुतो यस्य भक्तिर्दृश्यते, स आसुरजीवो न भवति, किन्तु भगवदपराधेन भक्तापराधेन वेदादिनिन्दया वा **प्रवाहेपि समागत्य प्राप्तोपि तै:** प्रवाहस्थैर्न युज्यते, न मिलति। **तत्कुले जातोपि स पुष्टिस्थस्तै: प्रवाहस्थकुलधर्मैर्न युज्यते,** न युक्तो भवति। ''न वै जनो जात्वि''ति वाक्यात्। तर्हि भक्तिमत: कथं प्रावाहिकेषु जन्मेत्यत आहु**: कर्मणा जायते यत** इति। **यत:** यस्मात् कारणात् भगवदपराधादिना प्रारब्धकर्मणा वा जायते उत्पद्यते। देहस्य कर्माधीनत्वाद्यादृशं कर्म, तादृशो देहो भवतीत्यर्थ:।।२३।।

इति श्रीवल्लभाचार्यै: साधनादिविभेदत:।

मार्गा: प्रोक्ता विचार्यैषु प्रविशन्तु फलार्थिन:।।१।।

भक्त्या श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जयुगं प्रभून्।

प्रणम्य कृपया तेषां यत्नाद्भक्ता:[१] सुखावहा:।।२।।

श्रीमत्कल्याणरायेण श्रीगोविन्दसुतेन हि।

पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवृति: कृतिना कृता।।३।।

इति श्रीविट्ठलेश्वरचरणकमलैकतानश्रीकल्याणरायविरचिता
पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवृति: समाप्तिमसर्पत्।।

---

१ साधु।

श्रीकृष्णाय नम:।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा।

श्रीपीताम्बरकृतविवृतिसमेता।

नम: श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जनखेन्दवे।

पुष्टिप्रवाहमर्यादास्तारका येन शोभिता:।।१।।

न भेदस्ते कुत्राप्यतिरुचिर किन्तु प्रियतया
विभेदोऽत: स्वामिन् कृपय मयि दासेऽतिविधुरे।
विभेद: केन स्यात् स्वकृतनिजपुष्टेरितरथा
प्रवाहादे: स्वीयप्रणतचरणप्रापक विभो।।२।।

श्रीवल्लभसुतचरणाम्भोरुहमकरन्दमत्तमधुपो य:।

जयति निगूढत्रिसरणिमालत्यां तस्य झङ्कार:।।३।।

इह हि चिद्रूपत्वेन भगवदंशत्वेन च तुल्येषु जीवेषु केषाञ्चित्पुरुषोत्तप्राप्ति:, केषाञ्चिदक्षरस्य, केषाञ्चित्स्वर्गादि:, केषाञ्चिदन्धन्तमस:, सा श्रूयत इति कुत: फलभेद:, कुतो वा स्वभावभेद:, कथं वा केशाञ्चित्स्वभावविरुद्धे देहक्रिये, इतरेषां च तदनुरूपे इत्यादिप्रकारेण सेवाफलविवरणादिग्रन्थश्रवणादन्यतश्च सन्दिहानानां सन्देहवारणाय तदुपायभूतमार्गतत्साङ्कर्ये निरूपयितुं बहूनां सन्देहानां भेदज्ञानादेव निवृतिं हृदि कृत्वा मार्गत्रयभेदनिरूपणं श्रीमदाचार्या: प्रतिजानते पुष्टीत्यादि।

पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक्-पृथक्।

जीवदेहक्रियाभेदै: प्रवाहेण फलेन च।।१।।

वक्ष्यामि सर्वसन्देहा न भविष्यन्ति यच्छ्रुते:।

एतन्मार्गत्रयं विशेषोत्कर्षादिरूपव्यावर्तकधर्मेण जीवादिभेदै: **प्रवाहेण** सर्गपरम्पराया अविच्छेदेन **फलेन च पृथक्-पृथक्** भिन्नं-भिन्नं यथा स्यात्तथा वक्ष्यामीत्यर्थ:। भेदकथनफलमाहु: **सर्वेति। यच्छ्रुते:** उक्तभेदकचतुष्टयश्रवणात्। एतेन जगत्यनेके मार्गा: कथं त्रय एवोच्यन्त इत्यपि सन्देहोऽनेनैवापयास्यतीत्यपि बोधितम्। ज्ञाते स्वरूपे अन्यान्तर्भावस्यापि सुखेनैव ज्ञानात्। न चैकेनैव भेदसिद्धावितरेषां वैयर्थ्यं शङ्क्यम्। स्वरूपसाधनफलैक्यनिरासकत्वेन सर्वेषामेव सार्थक्यात्। अत्यन्तविविक्तत्वज्ञान एव सर्वसन्देहनिरासात्।।१ १/२।।

नन्वाश्रयसिद्धौ भेदकं वक्तव्यम्, प्रकृते तु पुष्ट्यादिशब्दवाच्यानां मार्गाणामप्रसिद्धत्वात्तद्भेदनिरूपणं गगनकुसुमसौरभमनुकरोतीत्याशङ्कायामाश्रयसत्त्वं सिसाधयिषव: पुष्टे: पूर्वमुद्दिदृष्टत्वात्तत्रैव पूर्वं प्रमाणमाहु: भक्तीत्यादि।

भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिस्तीति निश्चयः।।२।।

दशमस्कन्धे भ्रमरगीतस्थसन्देशे ''या मया क्रीडते''त्यारभ्य ''अचिरान्मामवाप्स्यथे''त्यन्तस्य, ''युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेने''त्यादेः, ''दिष्ट्या गृहेश्वर्यसकृन्मपि त्वया कृतानुवृत्ति''रित्यादेः, एकादशस्कन्धे च ''अथैतत्परमं गुह्यं श्रृण्वतो यदुनन्दन। सुगोप्यमपि वक्ष्यामी''त्यारभ्य ''तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्ये''ति श्लोकद्वयान्तस्य ''भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ। पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं पर''मित्यादिभिर्भगवता भक्तिमार्गस्य कथनात्, ''सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः। स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत'' इति तृतीयस्कन्धे उक्तायाः ''भक्तिरस्य भजनंतदिहामुत्रोपादिनैराश्येनैवामुष्मिन्मनःकल्पनमि''त्याथर्वणोपनिषदि च श्राविताया भक्तेर्यो मार्ग उपायः प्रकारश्च तस्य कथनात्, पुष्टिरस्ति ''पोषणं तदनुग्रह'' इति वाक्यादनुग्रहापरपर्याया तत्तद्भक्तिबीजभूता कृपा भगवति वर्तत इति निश्चयः। अन्यथा भगवानेवं भक्तिमार्गं न वदेत्। ''निर्विण्णानां ज्ञानयोगः कर्मयोगस्तु कामिनापि''ति वाक्यादुभयोस्ताभ्यां फलसिद्धेरुक्तत्वात् ''न निर्विण्णो नातिसक्त'' इत्यनेनोक्तस्येषत्सक्तस्य कामसद्भावात्कर्मणा कथञ्चित्तेन[१] तदपूर्तौ निर्वेदे ज्ञानेन च यदाकदाचिद्यथाकथञ्चित्फलसिद्धेः सम्भवात्। लोकेऽपि स्वल्पधनस्याधमर्णस्य तावद्धनग्रहणादिभिर्महर्णविमोकस्योत्तमर्णानुग्रहेण दर्शनात्। कष्टसाध्ये प्रायश्चित्तादौ पर्षदनुग्रहेणैव सुकरसाधनोपदेशस्य स्मृतिष्वपि सिद्धत्वात्। ''भवन्तावनुगृह्णीतां याता वोऽनुग्रहादि्दव''मित्यादिषु तत्प्रार्थनादर्शनाच्च सुकरसाधनोपदेशबीजभूतानुग्रहे सिद्धे पुष्टिर्भगवत्यस्ति। सुकरसाधनरूपस्य भक्तिमार्गस्य कथनात्। यत्र-यत्र हितरूपसुकरसाधनकथनं तत्र-तत्र वक्तर्यनुग्रहसत्ता। यथा उक्तपरिषदि। यत्र नैवं तत्र नैवम्। यथा नृगसम्प्रदानविप्रादिषु, इत्यनुमानेन भक्तिरूपसुकरसाधनोपदेशाद्भगवति तत्सत्तायां न सन्देह इत्यर्थः। स च धर्मान्तरमेव। न तु फलदित्सा। ''यस्यानुग्रहमिच्छामी''ति वाक्यात्। दित्सात्वे इच्छाकर्मत्वायोगात्। अत एव न परदुःखप्रहाणेच्छापि। नापि तदर्थको यत्नः। कृपयामि न तु यते इति तदुत्तरं व्यसायदर्शनात्। कृपया यते दित्स इत्यादिप्रयोगाच्च। नापि ज्ञानम्। दुःखं जानन्नपि न दुष्टे कृपयति, नास्य दुष्टस्य दुःखममिति जानन्न कृपयतीत्यादिप्रयोगात्। दृष्टत्वान्नादृष्टविशेषः। द्वेषादिवैलण्याच्च न द्वेषादि। न च कृपयत्यनुगृह्णतीति भिन्नशब्दाभिलाप्यत्वाद्भिन्नानुव्यवसायगम्यत्वाच्च कृपानुग्रहयोर्भेदः शङ्क्यः। लोके कृपाभिन्नतया तत्प्रसिद्ध्यभावे धातुभेदप्रयोगादेस्तद्भेदाप्रयोजकत्वादिति। तस्मात्स्वीकारफलदित्सादिप्रयोजकं कृपापरपर्यायं धर्मान्तःमेवेति निश्चयः।

१ कथञ्चित्तेनेति नास्ति ।

स च भक्त्युपदेशस्येव भक्तेरपि कारणम्। यत्रानुग्रहाभावस्तस्य भक्तेरदानात्। ''भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं कर्हिचित्स्म न भक्तियोगे''मितिवाक्यात्। इदं यथा-तथा भक्तिहेतुनिर्णये प्रपञ्चितं प्रभुचरणैः। तथा च सति भक्त्युपदेशो वक्रनुग्रहपूर्वकः। सुकरसाधनोपदेशत्वात्। पर्षदुक्तसुकरप्रायश्चित्तोपदेशवत्। व्यतिरेके कष्टसाध्यदितिपयोव्रतोपदेशवत्। अयमनुग्रहविषयः। भक्तिमत्त्वात्। नारदवत्। व्यतिरेके साल्यादिवदित्यनुमानमपि तत्र प्रमाणं ज्ञेयम्। यद्यपि ''यमेवैष वृणुते तेन लभ्य'' इति श्रुतिर्भगवत्प्राप्तेर्वरणैकसाधनत्वं वदन्ती ''स वरस्तया वृतः'' ''कन्यां वृणीते'' इत्यादिप्रयोगदर्शनात्स्वीकारात्मकत्वेन सिद्धस्य वरणस्यानुग्रहजन्यत्वात्तत्र प्रमाणं भवति, तथापि ''तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वा''मित्युक्तस्य विवरणस्य स्वस्वरूपप्रकाशनात्मकत्वात्तत्र यत्फलं लाभात्मकं ग्रहणं तस्य ''भक्त्याहमेकया ग्राह्य'' इत्यादिस्मृत्या भक्तिसाध्यताबोधनात्पर्यवसानतो भक्तिद्वारैव जातस्य ग्रहणस्य प्रमितिरूपत्वं बोधयति। भक्तिश्च मार्गेणैव प्रमीयते। स चोपदेशादेवेति हृदि कृत्वाचार्यैरेवमुक्तम्। श्रुतेर्वादकवलितत्वेन पुनः प्रयासकरणापाताच्च।।१-२।।

एवं पुष्टिसत्तां साधयित्वा प्रवाहसत्त्वे प्रमाणमाहुः **द्वौ भूतसर्गाविति।**

द्वौ भूतसर्गा''वित्युक्तेः प्रवाहोपि व्यवस्थितः।
वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थिता।।३।।

प्रवहणं प्रवाहः। सर्गपरम्पराया अविच्छेदः। सोऽप्युक्तवाक्याद्दैवासुरविभेदेन व्यवस्थितः कृतविभागः। यदि स न प्रवहेदाप्रलयम्, तदा विभागो मुधैव स्यात्। अतः सोऽप्यस्तीत्यर्थः। मर्यादासत्त्वे प्रमाणमाहुः वेदस्येस्यादि। नियमानतिक्रमो मर्यादा। सात्र कर्मज्ञानादेस्तत्तत्प्रकारनियमस्य बोध्या। सापि वेदस्य विधिमन्त्रनामधेयनिषेधार्थवादात्मकस्यापौरुषेयनित्यशब्दस्य विद्यमानत्वात् व्यस्थिता, ''स्वर्गकामो यजेते''त्यादिभिर्विध्यादिभिः स्वर्गार्थं ज्योतिष्टोमं कुर्यात्, मन्त्रेणैव देवतां स्मरेत्, अग्निनामैव स्वाहाकारे वदेत्, ब्राह्मणं न हन्यात्, शीघ्रगामिनीं देवतां ज्ञात्वैव वायव्यालम्भः कर्तव्यो, नान्यथेत्यादिरूपेण नियमेन कृतविभागा। यदि सा न स्यात्, तद्विभाजको वेदो न स्यात्। अतो विभाजकस्य[१] वेदस्य विद्यमानत्वात्साप्यस्तीत्यर्थः। तथा च यद्यपि प्रवाहोऽस्ति। द्वौ भूतसर्गावित्युक्तेर्व्यवस्थितत्वात्। यद्व्यवस्थितं तदस्ति दायादिवदिति मर्यादास्ति। तद्व्यवस्थापकस्य वेदस्य विद्यमानत्वात्। यद्व्यवस्थापकस्य वेदस्य विद्यमानत्वं तस्य सत्त्वम्। यथा यज्ञादेरित्यनुमानाभ्यां तयोः सत्तापि सिध्यति, तथापि प्रवाहे प्रत्यक्षं मर्यादायां वा व्यतिरेकः प्रमाणत्वेन वर्तत इत्यतस्तदुभयसत्तासाधनाय नास्माभिः प्रयासः कृति इति भावः। अत्रैवं स्वरूपनिश्चायनेन यावन्तः पुष्टिप्रयुक्ता मार्गा भक्तिरूपास्ते पुष्टिमार्गेऽन्तर्भवन्ति,

१ विभागसार्थक्यात्साऽप्यस्तीत्यर्थः इति पाठः ।

ये लौकिकाः सर्गपरम्परां न विच्छन्दन्ति, ते प्रवाहेऽन्तर्भवन्ति, ये वेदनियमं नातिवर्तन्ते ते मर्यादायामन्तर्भवन्तीत्येवं बुद्धिसौकर्यान्त्रयो मार्गा ज्ञेयाः सन्देहनिरासेप्सुभिरिति बोधितम्। न च भगवद्वाक्ये ''योगस्त्रयो मया प्रोक्ता'' इति ज्ञानकर्मभक्तीनामेवोपायतया मार्गत्वबोधानादेतेषां कथं मार्गत्वमिति शङ्क्यम्। भक्तेर्विचारे तन्मूलभूतानुग्रह एव मार्गत्वस्य पर्यवसानेन, सर्गपरम्पराविचारे ''जायस्य म्रियस्वे''ति श्रुत्युक्तजन्माद्यनुच्छेदरूपफलहेतुतायाः प्रवाह एव पर्यवसानेन, ज्ञानकर्मफलस्य चोक्तविधनियमादेव भवनेन तद्धेतुतायास्तदनतिक्रम[१] एव पर्यवसानेन, तात्पर्यतस्तेषां मार्गत्वस्याप्रत्यूहत्वात्। एतेनैव ''प्रवाहपुष्टिमर्यादाः कुत उत्प्रेक्षिताः किल। दृष्टा वा कुत्रचिद्ग्रन्थे मूलमत्र निरूप्यता'' मिति भ्रान्तपर्यनुयोगोऽप्यपास्तो बोध्यः।।३।।

अतः परं भेदसाधनार्थं यतन्ते। तत्र, नन्वस्तु पुष्ट्यादिसत्ता। तावता परस्परविवेकस्तु न सेत्स्यति। तथाहि। ''फलमत उपत्तेरि''ति न्यायेन फलमात्रं भगवतः सकाशादेव। ब्रह्मवादे च चैतन्यभेदाभावान्नामभेदमात्रं नोपास्यभेदः। अतो लोकास्तत्तन्नाम्ना भजन्तोऽपि तत्तत्फलार्थं तमेव भजन्ते प्रावाहिका अपि। ततः फलं च लौकिकमलौकिकं प्राप्नुवन्तीति सर्वेषां भक्तत्वाविशेषाद्भक्तिमार्गस्य चानुग्रहप्रयुक्तस्य सर्वान् प्रति तुल्यत्वान्न प्रवाहाद्विवेकाः शक्यवचनः। मर्यादा तु वेदोक्तत्वाद्विविक्तैवेति द्वावेव मार्गावभ्युपगन्तव्यावित्याशङ्कायामाहुः **कश्चिदेव** हीति।

कश्चिदेव हि भक्तो हि ''यो मद्भक्त'' इतीरणात्।
न सर्वोतः प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदतः।।४।।
''यदा यस्ते''ति वचना ''न्नाहं वेदै''रितीरणात्।
सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः।।५।।

गीतायां ''यो मद्भक्तः स मे प्रिय'' इति भगवता यच्छब्दोपबन्धेन कस्यचिदेव भक्तत्वं बोधितम्। अतो न सर्वोऽपि लोको भक्तः। एवं परिसङ्ख्याते भक्ते तत्प्रयोजकं भजनम्। अत एव ''अनपेक्षः शुचिर्दक्षः'' ''मय्यर्पितमनोबुद्धि''रित्यादि विशिनष्टि। ''प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ''मित्यत्रापि ''चतुर्विधा भजन्ते मा''मिति भक्तिमेवोपक्रम्य ज्ञानिनो भक्तस्यात्मत्वं वक्ति, न केवलज्ञानिनः। तेन तादृशभक्तेरेव मार्गत्वातद्रम्याया पुष्टेः प्रवाहेणासाङ्कर्यात्सिद्धास्त्रयो मार्गा इत्यर्थः। नन्वस्त्वेवम्, तथापि मर्यादया साङ्कर्यं दुर्वारम्। तथाहि। भक्तिमार्गो नाम किं श्रवणादिसरणिरूपः, उत ''माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः। स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथे''ति पञ्चरात्रोक्तमाहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहसरणिरूपः। आद्यश्चेत्, ''धारयति रसति भजती''त्यादिश्रुतिसिद्धः। द्वितीयश्चेत्,

१ तत्रैवेति पाठः ।

सृष्ट्यादिवाक्यैर्माहात्म्यस्य ''आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवती''त्यादिभिर्निरुपाधिप्रीतिविषयत्वस्य च प्रतिपादनान्माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेह एव श्रुतेस्तात्पर्यमिति तट्टीकाचरः। पुराणानां श्रुत्युपबृंहणत्वात्तदुक्तत्वेऽपि श्रुतिमूलकत्वेन विधिविषयत्वान्मर्यादातो नातिरिच्यते। यत्पुनर्देवान्तरभजनम्, तदपि ''एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ती''ति श्रुतेर्भगवद्भजनमेवेति द्वावेव मार्गावित्याशङ्कायामाहुः वेदाच्च भेदत इति। वक्ष्यमाणहेतुभिः वेदात् वेदोक्तमर्यादामार्गाच्च। लोकादपि भेदं प्राप्य पुष्टिस्तीत्यन्वयः। अनुग्रहः स्वविषयं पुष्णातीति पुष्टिः। कर्तरि क्तिच्। सेतुर्विधृतिरितिवत्। वेदादिति वाच्यवाचकयोरभेदोपचारान्निर्देशः। तथाच, ''यदा यस्यानुगृह्णति भगवानात्मभावितः। स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिता''मित्यत्र लोकवेदौ पृथङ्निर्दिश्य भगवदनुगृहीतस्य तयोरास्थात्यागं वक्ति। यद्यनुग्रहो लौकिकेषु वैदिकेषु वा साधनेषु प्रविशेत्, तदैवं सामान्येनारुचिं न वदेत्। किञ्च। ''नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा। भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तपे''त्यत्र वेदादिपदैरुक्तानां ब्रह्मचारिवनस्थगृहस्थधर्माणां ''श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तपे''ति वचनादिहेज्यापदसङ्गृहीतस्य यतिधर्मस्य ज्ञानस्यापि दर्शनसाधनत्वमुपलक्षणविधया निषिध्य स्वविषयकस्य ज्ञानस्य ज्ञानफलयोर्दर्शनप्रवेशयोश्चानन्यभक्तिसाधनकत्वं वदति। तेनापि ज्ञापते, अनन्या भक्तिर्नोक्तधर्मेषु प्रविश्यति, केवलैव च फलं साधयतीत्यतोऽपि तत्कारणभूता पुष्टिस्तथा। किञ्च। 'नायमात्मे'ति श्रुतावपि प्रवचनादिनिषेधपूर्वकं वरणैकलभ्यत्वं वृतं प्रत्येव स्वस्वरूपविवरणं चोक्तम्। तेन वरणस्यैवोत्कर्ष उक्तः। वरणं चानुग्रहप्रयुक्तोऽङ्गीकार एव। तथा ''अथैतत्परमं गुह्यं श्रृण्वतो यदुनन्दन। सुगोप्यमपि वक्ष्यामि'' ''रामेण सार्धं'' ''प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्'' ''भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते'' ''ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्'' ''वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा'' ''केवलेन हि भावेन'' ''ता मन्मनस्का'' इत्यादिषु भक्त्युत्कर्षकथनेनापि तत्कारणीभूतपुष्टेरेवोत्कर्षः सिद्धः। अतो वेदोक्तत्वेऽपि वेदतात्पर्यगोचरत्वेऽपि जीवकृतवैधसाधनेष्वप्रवेशात्तदसाध्यसाधनात्फलवैलक्षण्याच्च स्वरूपतः कार्यतः फलतश्चोत्कर्षाच्च वेदोक्तसाधनेभ्योऽपि भिन्नैव तत्तदाकारिका पुष्टिस्तीत्यतो हेतोः सिद्धं मार्गत्रयमित्यत्र न सन्देह इत्यर्थः।।४-५।।

ननु भवत्वेवं स्वरूपविवेकः, तथापि ''धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यहः। नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्''। ''श्रेयः स्तुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये। तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्'' ''नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जन''मित्यादिभिः केवलस्यैव निन्दास्मरणात् ''निबन्धायासुरी मते''त्यादौ प्रवाहैकदेशस्यैव तथात्वातादृशामेवारुच्यत्वादसाधनत्वबोधनेन ''यदा यस्ये''त्यादीनां चारितार्थ्यात्तदेवसर्गस्यानिन्दया ''सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र विष्णुभक्तौ यथा नृपे''त्यादिभिश्च तस्य सर्वस्यापि भक्त्यनुकूलत्वेन

''दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमै:। श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यै: कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते'' ''ज्ञानी च भरतवर्षभ'' ''आत्मारामाश्च मुनय'' इत्यादिभिर्भक्तिसाधनतास्मरणाच्चाङ्गभावेन प्रवाहमर्यादयोर्भक्तिशरीर प्रवेशे एको मार्ग एवास्तु, न त्वत्यन्तविवेक इत्याशङ्कामनूद्य दूषयन्ति मार्गैकत्वेऽपीति।

मार्गैकत्वेपि चेदन्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ।
न तद्युक्तं सूत्रतो हि भिन्नो युक्त्या हि वैदिक:।।६।।

अपि: पूर्वपक्षगर्हायाम्। उक्तरीत्या मार्गैकत्वे **अन्त्यौ** मर्यादाप्रवाहौ भक्त्यागमौ भक्तेरागमोऽभिव्यक्तिर्याभ्यां तादृशौ **तनू** अङ्गभूतौ **मतौ** त्वयाङ्गीकृतौ। यद्वा। तनू न्यूनफलसाधनत्वादल्पौ। हेतुगर्भं विशेषणम्। तनुत्वात् उक्तरीत्या भक्तिहेतू शास्त्रसम्मतौ चेत्, तदङ्गत्वं हेतुत्वं वा न युक्तम्। हि यस्माद्धेतो: वैदिको मार्ग: **सूत्रत:** कर्मज्ञानविचारकेभ्यो मीमांसाद्वयसूत्रेभ्यो **युक्त्या** तत्तत्फलयोजनया हि निश्चयेन भिन्न:। सूत्रे हि जैमिनीये ''शेष: परार्थत्वादि''ति लक्षयित्वा ''कर्म फलार्थत्वादि''ति कर्मण: फलशेषत्वमुक्तम्। फलं च ज्योतिष्टोमादिवाक्ये स्फुटम्। विश्वजिदादिवाक्ये तु ''स स्वर्ग: स्यात्सर्वान्प्रत्यविशेषादि'' त्यनेन व्यवस्थापितमिति कर्माणि तावता चरितार्थानि शेषित्वेन भक्तिं नापेक्षन्ते। एवं ''अक्षरधियां त्ववरोध: सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तमि''ति वैयासे सूत्रे ''परं ब्रह्मैतद्यो धारयति रसति भजति ध्यायति प्रेमति श्रृणोति श्रावयत्युपदिशत्याचरति सोऽमृतो भवती''ति भगवद्धर्माणां मुक्तिसाधनत्वमाथर्वणोपनिषदि श्रुतम्। ''तमेवं विद्वानमृत इह भवती''ति भगवद्धर्माणां मुक्तिसाधनत्वमाथर्वणोपनिषदि श्रुतम्। ''तमेवं विद्वानमृत इह भवती''ति तैत्तिरीये श्वेताश्वतरे च ज्ञानस्य श्रुतम्। तत्र किं सर्वेषां कारणता, उत ज्ञानस्यैवेति सन्देहे, ''नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाये''त्यन्यनिषेधात् साधनवैजात्ये फलवैजात्यस्य दृष्टस्य मुक्तावयुक्तत्वात् ''भक्त्या मामभिजानाती''ति भक्तेर्ज्ञानोपक्षीणत्वाच्च ज्ञानादेव मोक्ष इति प्राप्ते, ''एतद्वै तदक्षरं गार्गि अस्थूलमनणु'' ''अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते'' ''अदृश्यमग्राह्यमि''त्यादिश्रुत्युक्तानामक्षरधियामक्षरविषयकज्ञानानाम्। तु: पूर्वपक्षनिरासे। अवरोधो मुक्तिसाधनेषु सङ्ग्रह:। स: सामान्यतद्भावाभ्याम्। उक्तश्रुतौ यथा धर्माणां पुरुषोत्तमसम्बन्धित्वं श्रुतम् तथा तैत्तिरीयखिले 'अम्भस्यपार' इत्युपक्रम्य, ''तदक्षरे परमे व्योमन्नि''ति भगवत्स्थानत्वेनाक्षरस्यापि श्रुतम्। अतो भगवद्धर्माक्षरयो: सामान्यम्। तथा ''ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती''ति श्रुतौ यस्तद्भाव: ज्ञानिनो ब्रह्मभाव उक्त:, सोऽपि ''ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मे''त्यत्र परमभक्तिप्राप्तौ स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वेन स्मृत इति ताभ्यां हेतुभ्याम्, न तु साक्षात्पुरुषोत्तमप्राप्तिसाधनत्वेन। नन्वेवं स्मृतावुच्यते। श्रुतौ तु तत्र विश्राम्यते इति विरोध:। किञ्च। अक्षरमप्यविशिष्टमिति तद्वित्सु केषाञ्चित्तत्सायुज्यम्, केषाञ्चिद्भक्तिलाभ इति निर्हेतुकं वैषम्यम्। तदुभयं कथं निरसनीयमित्याशङ्कायां दृष्टान्तेनाह औपसदवदिति। यथा उपसदाख्यकर्मसम्बन्धिनि तानूनप्त्रस्पर्शाख्ये कर्मणि ''अनाधृष्टमस्यनाधृष्यमि''ति मन्त्रेण तानूनप्त्राख्यं ध्रौवाज्यात्स्रुचि चतुरवत्तमाज्यं षोडशत्विज: ''अनु मे दीक्षामि''ति मन्त्रेण यजमानश्च स्पृशन्ति। तत्र कल्पे श्रुतौ

च श्रूयते ''यमृत्विजं कामयेत यज्ञयशसमृच्छेदिति तं प्रथममवमर्शये''दिति। अत्र सर्वेषामृत्विजां तुल्यत्वेऽपि यथा यजमानेच्छया फलवैषम्यम्, एवमिहापि भगवदिच्छया। अत्र सम्मतिमाह तदुक्तमिति। गीतास्विति शेष:। ''यदक्षरं वेदविदो वदन्ती''त्यादिना, ''पुरुष: स पर: पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यये''त्यन्तेन तथाचोपबृंहणत्वान्न विरोधो, नापि निर्हेतुकं वैषम्यमिति प्रतिपादितम्। अतो मर्यादामार्गीयं ज्ञानमपि स्वारस्येन मोक्षमेव शेषित्वेन गृह्णाति, न भक्तिम्। तथाच मीमांसाद्वये कर्मज्ञानयोस्तत्तन्मुख्यफलस्य पृथङ्निरूपणेन केवलाङ्गभूतप्रयाजादितुल्यत्वाभावात्सूत्रतो[1] वैदिकमार्गो भिन्नो, 'दानव्रततपोहोमे'त्यादिवाक्यसिद्धोऽनुग्रहयुतश्च भिन्न:। एवं दैवसर्गात्मा प्रवाहोऽपि मोक्षशेष एव, ''दैवी सम्पद्विमोक्षाये'' ति वाक्यात्। इतरस्तु बन्धशेष इति दूरापास्तं भक्तिशेषत्वम्। यदि प्रवाहो भक्तिशेष: स्यात्, भगवानेवम्भावं तत्सम्पत्तेर्न वदेदिति युक्त्या वैदिक: सर्गोऽपि भिन्नोऽनुग्रहयुतश्च भिन्न इत्यनुपदं साधनीयम्। अत: केवलानां त्रयाणां स्वरूपमत्यन्तविविक्तमेवेति[2] सिद्धं मार्गत्रयमित्यर्थ:।।६।।

एवं स्वरूपं विविच्य उक्तवाक्यै: संयोगपृथक्त्वेन भक्तिशेषत्वे मार्गैक्यं दुर्वारमित्याशङ्कायां पूर्वोक्तविवेकोपष्टम्भाय युक्तिमप्याहु: **जीवेत्यादि।**

जीवदेहकृतीनां च भिन्नत्वं नित्यता श्रुते:।
यथा तद्वत्पुष्यिमार्गे द्वयोरपि निषेधत:।।७।।
प्रमाणभेदाद्भिन्नो हि पुष्टिमार्गो निरूपित:।

''ध्रुवासो अस्य कीरयो जनास'' इति श्रुतौ स्तुतिक्रियावतां जननशालिनां चेतनानां नित्यत्वश्रावणाद्यथा पुष्टिमार्गे भिन्नत्वं इतरवैलक्षण्यम्, तद्वत् ''नायं सुखपो भगवान् देहिनां गोपिकासुत:। ज्ञानिनां चात्मपोतानां यथा भक्तिमतामिहे''ति वाक्ये द्वयोर्देहिज्ञानिनोर्निषेधत: सुखेन भगवत्प्राप्तिनिषेधादपि भिन्नत्वम्। यदि सर्वजीवदेहकृतीनां नित्यत्वं स्यात्, कीरय इत्यादि विशिष्य श्रुतिस्तन्नित्यत्वं न वदेत्। ब्रह्मवादे नित्यत्वस्य विशिष्टाद्वैतद्वैतवादयोरनित्यत्वस्य मायावादे मायिकत्वस्य सर्वेष्वविशिष्टत्वात्। एवं सत्यपि यदेवं वदति, तेन तादृशतद्विशिष्ट: पुष्टिमार्गो भिन्न एव। किञ्च। यदि पुष्टिमार्गस्येतरविवेको न स्यात्, उक्तवाक्ये द्वयो: सुखेन भगवदाप्तिं न निषेधेत्। यस्मादेवम्, तस्मान्मार्गो भिन्न इति। पूर्वश्लोकस्थयुक्तिपदस्यैवायं प्रपञ्च:। एवञ्च ज्ञानादिमार्गो यदि पुष्टिमार्ग: स्यात्, साक्षादेव पुरुषोत्तमप्रापक: स्यात्। यदि तथा स्यात्, ''यतो वाचो निवर्तन्त'' इति श्रुतिर्वागाद्यप्राप्यत्वं न वदेत्। ''नैतन्मनो विशती''त्यादि योगेश्वरा न वदेयु:। तथा उक्तवाक्ये ज्ञानिनां देहिनां च तां न निषेधत्। निषेधो यद्यन्यार्थ: स्याद्, ''यथा भक्तिमता'' मिति न वदेत्। ''भक्त्या त्वनन्यये''ति ''यमेवैष वृणुत'' इति स्मृतिश्रुती न वदेताम्। यस्मादेवं

१ तस्मात्सूत्रतो वैदिकमार्गो भिन्नोऽनुग्रहयुतश्च भिन्न इति पाठ: । २ अत्यन्तविभक्तमेवेति पाठ: ।

तस्मात्तथेत्यादयोऽप्यनुसन्धेया:। एवं नानाप्रमाणैर्मार्गस्वरूपभेदे सिद्धे मर्यादामार्गीयाणां 'श्रोतव्य' इत्यादिषु श्रवणादीनां यद्दर्शनसाधनत्वमुच्यते, तत् 'नायमात्मे'त्यादिपूर्वोक्तश्रुतिस्मृत्यनुरोधाद्भक्तिरूपाणामेव। न तु केवलानाम्। परमात्मनस्तत्राप्रकाशादक्षरात्मन्येव पर्यवसानात्। 'क्लेशोऽधिकतर' इति वाक्यादुदु:खसाहचर्यं च क्वचित्। ततो मर्यादामार्गीयाण्येव तानि। ''ब्रह्मविदाप्नोति पर''मित्यत्रापि तदनुरोधात्स्वकरणकमेव ज्ञानमुच्यते। यद्याविर्भवेत्तदा विद्यादिति। आविर्भावस्तूक्तप्रनाडीकभक्त्यैव। ''तमेव विदित्वे''त्यत्रापि ''ते ध्यानयोगानुगता'' इत्युपक्रमात् मध्ये च ''तस्याभिध्यानाद्योजात्तत्वभावादि''ति कथनात्सर्वभावेनाश्रयणरूपामुपासनामपेक्ष्यैव ज्ञानमुच्यत इति तादृग्ज्ञानकारणीभूतभावस्य बीजभूतानुग्रहमन्तरेणाभावादुक्तैव प्रनाडी। एवं धर्मदानादयो भक्त्युत्पादकसंहितोक्तरीतिबोधकैकादशस्कन्धोदितप्रकारेणानुष्ठीयमाना भक्तिसाधनतां यान्ति। स प्रकारोऽप्यनुगृहीतानामेवार्थे भगवतोक्तो भिन्न एव। न तु मीमांसित:। तत्र तथानुसन्धानस्य विचारादर्शनात्। अतो विचारितास्तत्तत्फलसाधका एवेति यथाविचारं मर्यादां प्रवाहं वा नातिवर्तन्ते। तथैव योगादयो वामादीनि बाह्यानि च स्वस्वशास्त्रोक्तफलसाधनाय प्रवृत्तानि। अत: सर्वाण्यसङ्कीर्णानि। तदेतत्सर्वं हृदिकृत्य व्यावर्तकधर्मेण पुष्टिमार्गभेदसाधनमुपसंहरन्ति प्रमाणभेदादित्यादि। अत्र यद्यपि पुष्टिमार्गस्वरूपभेदनिरूपणस्यैवोपसंहार: कण्ठादुक्त:, तथापि मर्यादाप्रवाहयोरपि प्रसङ्गात्सिद्धो ज्ञेय:। अग्रे ''प्रवाहस्थान्प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुता''निति स्वरूपादिभेदयुतजीवभेदनिरूपणस्यैव प्रतिज्ञानात्। अन्यथा सोऽपि व्यावर्तकप्रमाणभेदै: स्वरूपबोधनाय प्रतिज्ञात: स्यात्।।७।।

एवं प्रमाणबलेन मार्गस्वरूपभेद: साधित:। तेन[१] मार्गत्रयप्रमितौ जनितायां प्रमेयबलेनापि सिद्ध एवेत्यत: साधनभेदेन मार्गत्रयभेदं साधयितुं जीवादिभेदयुताविच्छिन्नसर्गेण पुष्टिभेदसाधनाय सामान्यत: सर्गभेदनिरूपणं प्रतिजानते सर्गभेदं प्रवक्ष्यामीति।

सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतम्।।८।।
इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरि:।
वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चय:।।९।।

ननु ''यथाग्ने: क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा'' इति श्रुतौ जीवमात्रस्योत्पत्तिरेकप्रकारिकैवोक्तेति तेषु वैलक्षण्यस्यासम्भवे[२] तद्देहेषु भौतिकत्वादेस्तुल्यत्वात्तत्क्रियास्वपि तदनुरूपत्वादेस्तुल्यत्वात्साधनसाङ्कर्यस्य वज्रलेपायितत्वेन सर्गभेदनिरूपणं व्यर्थम्। तथा सति नात्यन्तं विवेक इत्यत आहु: स्वरूपाङ्गक्रियायुतमिति। तथाचैतत्सन्देहनिरासाय तद्भेदोऽपि प्रमाणगोचरीकरिष्यत इति भाव:। तदेवाहु: इच्छामात्रेणेत्यादि। अत्रेच्छामात्रेणेत्यनेन ''बहु स्यां प्रजायेयेती''ति श्रौतमालोचनं निमित्तत्वेनोक्तम्। तेनैतदाकारिकेच्छारूपो भगवानेव

---

१ अत: परं प्रमेयबलेन साधनभेदेन च भार्गत्रयभेदमित्यादि: पाठ: । २ असंभवात्, एवं भौकित्वादेस्तुल्यत्वाद् देहक्रियाखपीतिपाठ: ।

निमित्तम्। तेन हेतुना मनआदिभि: स्वस्य रूपै: समवायिभि: प्रवाहादीन् सृष्टवान्। तत्र मनसा प्रवाहसृष्टिरेकादशस्कन्धे ''पुरुष: प्रकृतिश्चेति विकल्प: पुरुषर्षभ। एष वैकारिक: सर्गो गुणव्यतिकरात्मक'' इत्यनेनोक्तेति ज्ञायते। विकल्पत्वकथनात्। श्रुतौ[३] च ''असतोऽधि मनोऽसृज्यत, मन: प्रजापतिमसृजत, प्रजापति: प्रजा असृजत, तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितमि''ति जाग्रति बहि: सृष्टिरुच्यते। तथा ''य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं-कामं पुरुषो निर्मिमाण:। न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथ: सृजत'' इति स्वप्ने उच्यते। यत्र मनसा बहि: सृजति, तत्र मायापि सहोपादीयते। अत एव नृसिंहतापनीयश्रुतौ वटबीजदृष्टान्तमुक्त्वा ''तथेयमपि स्वाव्यतिरिक्तानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवती''त्याद्युच्यते। अत एव ''यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभि:। नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमय''मिति भगवतापि उभयमयत्वमुच्यते। अत एवासुरा: सृष्टिकर्तृत्वं ब्रह्मलक्षणमस्यां दृष्ट्वा मायामेवोपासते। तदपि श्रावितं मण्डलब्राह्मणे 'मायेत्यसुरा' इति। इयमेव सृष्टिरन्तरमन्यदित्यादिशब्दैर्व्यवहियते श्रुतौ-''यद्युष्माकमन्तरं बभूवे''ति। ''मायया ह्यन्यदिवे''ति। मायावादिनश्चैतामेवावलम्ब्य ब्रह्मवादिभि: प्रत्यवतिष्ठन्ते। इयं च सत्यसृष्टिमुपधाय तदुत्तरं च जन्यते। अत एव नृसिंहतापनीये योनित्वमात्मन एवोच्यते। अनुमानं च, विमत: प्रपञ्च: सत्यसृष्ट्युत्तरकालीन:। मायामनोमयत्वात्। स्वाप्निकैन्द्रजालिकवत्। व्यतिरेके, तत्तन्मतस्थसत्यप्रपञ्चवत्। एतेनैवार्थादेव सत्यसृष्टिसिद्धिरपि। इयमेव निबन्धे ''महेन्द्रजालवत्सर्वं कदाचिन्मायययासृजदि''त्यनेन सङ्गृहीता। तथाच व्यामोहिका स्वत: सत्कार्याक्षमा सदुपधानेन तत्तत्क्षमा सृष्टि: प्रवाहसर्ग इति सिद्धम्। तथाच मनसा व्यामोहबहुलं प्रवाहं सृष्टवानित्यर्थ:। वचसा सृष्टिश्च ''एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄन् तिर:पवित्रमिति ग्रहानाशव इति शस्त्रं विश्वानीति स्तोत्रमभिसौभगेत्यन्या: प्रजा इति, स मनसा वाचं मिथुनं समभवदिति, स भूरिति व्याहरन् भूमिमसृजते''त्यादिश्रुतिषु, ''सर्वेषां स तु नामानि रूपाणि च पृथक्पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे। नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वर''इत्यादिस्मृतिषु च स्फुटा। न चात्र तृतीयाप्रयोगात्करणत्वमेव, नोपादानत्वमिति वाच्यम्। ''मृदा घटं निर्मिमीत'' इत्यादावपि तथा प्रयोगात्। न चैवं ब्रह्मोपादनत्वश्रुतिव्याकोप:। ''वाचाऽविरूपनित्यया'' ''वेदो नारायण: साक्षादि''त्यादिभिर्भगवद्रूपताबोधनेन तन्निवृते:। न च शब्दस्यार्थोत्पादकत्वमसङ्गतमिति वाच्यम्। शब्दतन्मात्रादाकाशोत्पत्ते:

स्मृतिशतसिद्धत्वात्। तथा वर्णात्मकादपि तदुत्पत्तौ बाधकाभावात्। वस्तुतस्तु ''वेदा यथा मूर्तिरास्थिपृष्ठ''इति वाक्याद्वेदाभिमानिदेवतैवोपादीयते। अत एव ''ॐमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्। भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव। सर्वं ह्येतद्ब्रह्मे''ति माण्डूक्येऽपि श्रूयते। नामसृष्टौ तु नाद एव प्रणवद्वारोपादीयते। अत एव द्वादशस्कन्धे ॐङ्कारमुपक्रम्य ''स्वधाम्नो ब्रह्मण: साक्षाद्वाचक: परमात्मन:। स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातन''मित्युक्तम्। ''स एष जीव'' इत्यादि च। तेन वेदपुराणाद्यात्मकसृष्टे: प्रणव एवोपादानम्। एवञ्च, ''मन: पूर्वो वागुत्तर'' इत्यादिश्रुत्या वाचो मन:पूर्वकत्वश्रवणात्, ''वचसा वेदमार्गं ही''त्यत्रार्थादेव मन:पूर्वकत्वसिद्धि:। तथाच मनस्समाधिपूर्वकं वचसा वेदमार्गं सृष्टवान्। हि युक्तश्चायमर्थ:। तेन मार्गेण भगवान् प्राप्यत इति। यतो हरि: सर्वदु:खहर्ता। तथाच वेदमार्गं विना जीवानां दु:खनिवृत्तिर्न स्यादतस्तथा कृतवानित्यर्थ:। एतदेव ''तेने ब्रह्म हृदे''त्यनेनोच्यते। अत एव ''जन्माद्यस्य यत: शास्त्रयोनित्वा''दिति सूत्रकारोऽपि रूपसृष्टेर्नामसृष्टेर्भेदं क्रमेणाह। तथा ''रूपप्रपञ्चकरणादासक्तस्वांशवारणे। श्रुतिमात्मप्रसादाय चकारात्मानमेव स'' इत्याचार्यैर्निबन्धे निरूपितम्। इदमत्राकूतम्। ''स वै नैव रेम'' इति श्रौते सन्दर्भे रमणार्थमेव प्रपञ्चरूपेणाविर्भाव उच्यते। तथाच रमणं वयैचित्र्यं विना न सम्भवतीति सर्वेषामविद्यया स्वशक्त्या तत्तदासक्तिरूपं बन्धं सम्पादितवान्। पश्चात्सर्वे एते दु:खिता एव भविष्यतीति करुणया वेदमार्गकरणं दु:खनिवर्तकम्। अतो मनस्समाधिपूर्वकत्वमुच्यते। तथाच येषां वेदमार्गेण मुक्तिस्ते दैवजीवा:। येषां बन्ध एव ते आसुरा:। ''दैवी सम्प''दिति वाक्यात्। पुष्टिं तु कायेन। कस्य रूपमभूद्द्वेधा तत्कायमभिचक्षत'' इति कायपदनिर्वचनात्। ''स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्तत: पतिश्च पत्नी चाभवता'' मिति पुरुषविधब्राह्मणे श्रावणात्स्वरूपस्यैवानेकधा भवनम्, स्वरूपं चानन्द एवेत्यानन्देनेत्यर्थ:। तत्रापि निश्चय: नितरां चय एकीभावो यस्य तादृशोऽतिसावधान:। तेन मनोवच:पूर्वकत्वमर्थादेव सिद्धम्। गोवर्धनोद्धरणप्रसङ्गे तथात्वं स्पष्टत्। तस्यामानन्दांशादेर्न तिरेभाव:। एतद्यथा तथा विद्वन्मण्डने निबन्धे च स्पष्टम्। यद्यपि पूर्वत्र समवायित्वं भगवत एवेति तस्यापि कायेनैव सृष्टिरायाति, तथापि तत्र समवायित्वे सच्चितोरेव प्राधान्यम्, अत्र तु केवलानन्दस्येति भेद:। अथवा। मर्यादाया: समवाय्यप्यक्षरमेव। ''मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थित:'' ''अव्यक्तोऽक्षर इत्यक्त:'' ''अव्यक्ताव्द्यक्तय: सर्वा'' इत्यादिवाक्यैर्मर्यादासृष्ट्युपादानकारणत्वेनाक्षरं ब्रह्म निरूपयित्वा, ''परस्तस्मात्तु भावोऽन्य'' इत्यादिना तस्य क्षरात्परत्वमुक्त्वा, तस्य

स्वधामत्वं चोक्त्वा, अग्रे ''पुरुष: स पर: पार्थं भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यये''ति स्वस्य ततो भिन्नत्वं भणितवान् भगवान्। अत एव ''एकांशेन स्थितो जग''दिति स्पष्टमेव सङ्गच्छते। अत्र 'एकांशेने'ति कथनाद्भगवदंशस्याक्षरस्य मर्यादासमवायित्वमवगम्यते। कालपक्षेऽपि तस्याभिन्नत्वादविरोध:। अत एव बृहद्वामनपुराणे ब्रह्मवाक्यं ''अक्षरं ब्रह्म परमं वेदानां स्थानमुत्तम''मिति। अत एव ''द्विरूपं तद्धि सर्वं स्या'' दिति सिद्धान्तमुक्तावल्यामाचार्यैर्निरूपितम्। एवं प्रवाहेऽपि मायामनोरूप: समवायी। ''द्वे अस्य बीजे'' इत्यरभ्य ''मायामयं वेद स वेद-वेद''मिति भगवता निरूपणात्। न च मिथ्यात्वं सर्वस्य। मायामात्रस्यैव तथात्वात्। सन्ध्याधिकरणेन तथा निश्चयात्। अत्र मात्रपदाभावात्। कात्स्र्न्येनाभिव्यक्तस्वरूपत्वाच्च। मायाया: शक्तितया सतीत्वेन मयटो विकारार्थत्वेऽप्यदोषाच्च। अतोऽहङ्कारस्य चिदचिद्ग्रन्थिरूपत्ववद्व्यावहारिकप्रवाहस्य सदसद्ग्रन्थिरूपतया सत्यत्वस्यापि विद्यमानत्वान्न कोऽपि शङ्कालेश:। पुष्टौ तु पुरुषोत्तम एव सर्वांशेन कार्यकरणरूप इत्यभिप्रेत्य कायेनेत्युक्तम्। अत एव श्रुतौ साक्षात्परम्पराभ्यां सृष्टि: स्वस्यैव सर्वरूपेण भवनं चेति प्रकारत्रयेण सृष्टिकथनम्। अत एव तैत्तिरीये ब्रह्मवित्प्रपाठके ''तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश: सम्भूत'' इति ''सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति'' ''स आत्मानंस्वयमकुरुते''ति वारत्रयं सृष्टिरुक्ता। वैजात्याभावे तथा कथनमप्रयोजनकं स्यात्। तस्मान्न कोऽपि शङ्कांश:। कारणवैजात्ये फलवैजात्यन्यायस्य तुल्यत्वात्। अवानन्तरेभेदास्त्वेतेष्वेवान्तर्भवन्ति। एतच्च लीलासृष्टेर्भगवदात्मकत्वं ''नारायणसमो गुणै'' रित्यत्र 'तमद्भुतमि'त्यत्रापि च निर्णीतं श्रीमदाचार्यचरणै:। अत एव ''अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म'' ''दहर उत्तरेभ्य'' इत्यादिश्रुतिसूत्रैर्भगवल्लीलासृष्टेर्भगवद्रूपत्वमुच्यते। बृहद्वामनपुराणे ''आनन्दमात्रमिति यद्वदन्तीह पुराविद:। तद्रूपं दर्शयास्माकं यदि देयो वरो हि न'' इति श्रुतिभि: प्रार्थितो भगवान् ''स्वलोकं प्रकृते: परम्। केवलानुभवानन्दमात्रमक्षरमध्यम'' मित्युक्रम्य 'किशोरकृतिरच्युत' इत्यन्तेन वृन्दावनगोवर्धनयमुनादिसर्वभक्तसहितं स्वस्वरूपं दर्शितवानिति सर्वस्या एव लीलासृष्टेस्तद्रूपत्वमायातीत्येतत्सर्वं विद्वन्मण्डने स्पष्टम्। ननु भवत्वेवं सर्गभेद:, तथापि सर्वेषां जीवानां भगवदंशत्वाविशेषात्प्रावाहिकाणामेव अतिदुष्टत्वे को हेतु:। न च रमणेच्छैव हेतु:। तथा सति स्वरतीच्छायां तेषां लय: स्यात्। न च जायत एवेति वाच्यम्। तथा सति अतिदुष्टता न स्यात्। यथा कर्मिणाम्। न चेष्टापत्ति:। तथा सति ''मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिं''मिति भगवद्वाक्यविरोध: स्यात्। एवकारश्च सर्वमुक्तिदशायामपि प्राप्त्यभावद्योतको विरुध्येत। कर्मिणामपि सर्वमुक्तितोऽर्वाक्

भगवत्प्राप्त्यभावादुच्चनीचकर्मणा चाधमादिगतेरपि जायमानत्वादविशेषश्च स्यात्। मामित्यस्य पदस्याक्षरपरत्वेऽपि न निस्तारः। उक्तदोषतादवस्थ्यात्। वस्तुतस्तु लयाभावोऽप्यशक्यवचनः। 'यथाद्रिपभवा' इति वाक्यात्। अथोक्तगीतावाक्यानुरोधा 'द्यथाद्री'ति वाक्यस्थे गतिपदे सङ्कोचः कार्यः। तथा सति तेषामन्धतमःप्रवेश एव मुक्तिः। तथाच सर्वमुक्तिदशायामपि न भगवति तेषां लय इति स्वीक्रियत इति चेत्। तर्हि ''यतो वा इमानी''त्यादि ''अव्यक्तादीनि भूतानी''त्यादिश्रुतिभगवद्वाक्ययोर्भगवत एवोत्पत्तेर्भगवत्येव च लयस्य कथनात्तेषां तत्र लयानङ्गीकारे तत उत्पत्तिरपि न स्यात्। यदि चोभयसामञ्जस्यार्थमन्धतमसस्ततोऽतिरेकेण प्रलये स्थितिरङ्गीक्रियते, तदा ''भवानेकः शिष्यतेऽशेषसंज्ञ'' इति श्रीभागवतवाक्यविरोधः। न च सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वादन्धतमसोऽपि तथात्वादेकपदस्य मुख्यवाचकत्वेनाप्युपपत्तेस्तत्थितौ को दोष इति वाच्यम्। अन्धतमसो विकारत्वात्तस्य ब्रह्मत्वाङ्गीकारे ''वाचारम्भणं विकार'' इत्यादि ''विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवा''नित्यादिश्रुतिभ गवद्वाक्यविरोधात्। ''बृहदुपलब्धमेतदवन्त्यवशेषतये''त्यादि ''निर्दोषपूर्णगुणविग्रह''इत्यादिवाक्यानि च विरुध्येरन्। अतो भगवति लयानङ्गीकारे भगवतो न तदुपादानत्वमिति सिध्येत्। किञ्च। रमणेच्छाप्येतदुत्पत्तौ न कारणीभवितुमर्हति। यतो रमणेच्छया स्वयं तावद्रूपो भूत्वा क्रीडतीत्युच्यते। एतेषां च केवलं दुःखित्वान्न रमणलेशोऽपि। अत एव ''केवलं नित्यदुःखा'' इति श्रीवल्लभाष्टकोक्तिरपि सङ्गच्छते। न च भगवद्भिन्ना एव केचनैव जीवाः सन्ति येषामियं व्यवस्थेति वाच्यम्। अद्वैतश्रुतिविरोधात्। तस्मादुत्पत्तेरेवाभावान्मार्गभेदव्यवस्था कर्तुमेवाशक्येति चेत्। अत्रोच्यते। भगवान् हि सर्वरसभोक्ता राजवद्रमणार्थं स्वस्वरूपात्मकं प्रपञ्चं कृतवान्। तत्र च वैरिणोऽप्यपेक्षिताः। अन्यथा वीररसभोगो न स्यात्। स्वांशाश्च वैरिणो न भवन्त्येव। ''यो यदंशः स तं भजते'' इति वाक्यात्। तथाच पूर्वोदाहृतश्रुतिस्मृतिभिर्भगवता स्वसामर्थ्यरूपया मायया केचन जीवा मायांशा एव ''जीवेशावाभासेन करोती''ति श्रुत्युक्ता व्यावहारिकास्तद्योग्यव्यावहारिकसकलसामग्रीयुक्ताः सृष्टाः सन्तीत्यवगम्यते। व्यवहारश्च लौकिको गुणानां सन्निपातः। 'अदृष्टान्यतम'मित्यस्य देवक्युद्देशेनोक्तस्य भगवतो वाक्यस्य विवरणे ''यद्यपि मत्तोऽन्ये ये केचन सम्भवन्ति मायया सृष्टा'' इत्यत्र स्पष्टभिदम्। सप्तत्रिंशाध्यायेऽक्रूरस्तुतौ 'म्लेच्छघ्नाये'त्यस्य विवरणे च ''म्लेच्छा ये सहजा दैत्यास्ते गुणवन्तोऽपि हन्तव्या'' इत्यनेन। अत एव श्रीमदाचार्यैरपि सृष्टिभेदनिरूपणे निबन्धे ''महेन्द्रजालवत्सर्वं कदाचिन्मायायासृजत्।

तदा ज्ञानादयः सर्वे वार्तामात्रं न वस्तुत'' इति पद्याभासे ''स्वप्नादिसृष्टिसङ्ग्रहार्थमाहे''त्यादिपदमेतभिप्रायकमेवोक्तम्। अत एव 'मायेत्यसुराः' ''यो यदंशः स तं भजत'' इत्यादिशृत्यादयोऽपि सङ्गच्छन्ते। अत एव श्रीगोकुलनाथचरणैरपि सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतिस्थायाः ''सेवा हि सेवकधर्मस्तदुक्त्या जीवानामशेषाणां सहजदासत्वं ज्ञापित''मिति फक्किकाया व्याख्याने ''आसुरव्यतिरिक्तानामशेषाणा''मित्युक्तम्। अत एव ''पुमान् विरज्येत विना पशुघ्ना''दिति श्लोकव्याख्याने ''अनिवर्त्यदोषेण चाप्रवेश'' इत्युक्तिराचार्याणामस्माकमाश्रयः। ''सहजासुरत्वेनेत्यर्थ'' इति प्रभुचरणतद्विवृतिरपि। अत एव ''असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चे''दिति ''न सत्यं तेषु विद्यत'' इत्यादिश्रुतिभगवद्वाक्ये तेषां व्यावहारिकं सत्त्वं वदतः। अत एव देवकीसुतानयनाय गतवन्तं भगवन्तं स्तुवतो बलेर्वाक्यविवृतौ श्रीमदाचार्यैरुक्तम्, ''ते चेत् द्वेषिणस्तदा तेषां व्यावहारिकं सत्त्वं वदतः। अत एव देवकीसुतानयनाय गतवन्तं भगवन्तं स्तुवतो बलेर्वाक्यविवृतौ श्रीमदाचार्यैरुक्तम्, ''ते चेत् द्वेषिणस्तदा तेषां नरकपात आवश्यक इत्या''सुरीं योनिमापन्ना'' इति वाक्यानुसारेण कदाचिदप्यमुक्तौ कथं भगवान् सर्वात्मे''ति। तथाच इच्छामात्रेण निमित्तेन मायोपादानकं प्रवाहं सृष्टवान्। न तु स्वयं तत्र प्रविष्टः। तथाच मायया निर्मितेषु नरकादिरूपविकारेषु ते पतन्तीति न कोऽपि दोष इत्यर्थः। ये च मुच्यन्ते ते च नासुराः। किन्त्वासुरावेशिनः। तथाच ते भगवदंशा एवेति निष्कर्षः। यदा च स्वतीच्छा तदा मायामप्युपसंहरतीति तेऽपि न प्रतिभासन्ते। वस्तुतस्तेषामसत्त्वात्। तथाच ये प्रपञ्चं मायिकमेवाहुस्त आसुरा एव। यतस्तेषां तथैव भासते। ''पुण्यो गन्ध'' इत्यादिवाक्यविचारेण दोषप्रतीतिमात्रस्य मायिकत्वमिति न कोऽपि दोषः। ननु सामर्थ्यस्य स्वरूपानतिरिक्तत्वाप्रावाहिकाणां विकारस्य च मायोपादानकत्वाद्विकारित्वं ब्रह्मणो दुर्वारमिति चेत्। न। न हि तेषां सामर्थ्यरूपत्वम्। असत्त्वात्। किन्तु सामर्थ्यात्प्रतीयमानत्वम्। अन्यथा सत्यता स्यात्। दृश्यतेऽपि नटैः प्रदर्श्यमानस्य मिथ्यात्वं क्षणिकत्वात्तत्सामर्थ्यस्य च सत्यत्वमिति न मार्गभेदानुपपत्तिः। यद्वा। वीररसभोगार्थमुत्पादिता अपि जीवाः सत्या एव। ''जीवेशावाभासेने''ति श्रुत्युक्तस्याप्याभासस्याभास्यसमानाकारत्वात्। तयोः समानाकारत्वस्यैव लोके दर्शनात्। अत्राभासाभास्ययोरुभयोरप्यान्तरत्वेन द्वेषरूपधर्मप्रतिबिम्बेऽपि बाधकाभावात्। न च वीररस उपयुज्यमानस्य तद्धर्मस्य द्वेषस्य तेष्वभावः शङ्क्यः। द्वेषस्याप्यानन्दतिरोभावात्मकत्वेन तेषु तत्सत्त्वात्। अतस्तद्विशिष्टा एव ते। किञ्च। ''सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः। स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभो''रिति द्वितीयस्कन्धोक्ता भगवदुत्पन्ना

गुणा: कार्यार्थं मायया यथा गृह्यन्ते तथा भगवत्कार्यार्थं तया ते जीवा अपि स्वजन्यया अविद्याशक्त्या गृह्यन्ते। अत एव विद्वन्मण्डने ''यस्मिञ्जीवे यादृशीच्छा तदनुरूपा एवाविद्यादिशक्तय: सत्त्वादिभेदेन तं व्याप्नुवन्तीति महदैश्वर्यं भगवत'' इत्युक्तम्। तेन ते ''प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे''त्युक्तासुरधर्माणो भवन्ति। तद्धननादिना भगवानपि वीररसादिकं भुङ्क्ततेे। तादृशभगवदिच्छावशादेव तेषां तथात्वमिति ''यो यदंश: स तं भजत'' इति वाक्यस्याति न विरोध:। तैर्भजनकारणे भगवदिच्छाभावात्। तेन तेषां देहादिकं सदसद्ग्रन्थिरूपं प्रागेव साधितम्। एवं सति ते स्वकर्मणान्धे तमसि प्रविशन्ति। अन्धन्तमश्च प्रलयेऽविद्यायां प्रविशति। अविद्या च मायायाम्, माया च ब्रह्मणि। प्रलयस्य श्रुतौ पुराणेषु च प्रतिसञ्चरत्वेन सृष्टिविपरीतक्रमतया सिद्धत्वात्तदापि ते भगवन्तं न प्राप्नुवन्तीति 'मामप्राप्यैवे'ति वाक्यमप्युपपद्यते। न च विकारस्य सत्यत्वे ब्रह्मणो विकारित्वापत्ति:। विकारस्य वाचारब्दत्वेन तदनन्यतया तदभावात्। तस्य दुष्टताया अपि लीलार्थमैच्छिकत्वात्। वस्तुविचारे दोषस्य प्रतीतिमात्रत्वात्। तदनन्यत्वाधिकरणे तथैव सिद्धत्वात्। द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यामपि ''यत्किञ्चिद्दूषणं त्वत्र दूष्यं चापि हरि: स्वयम्। विरुद्धपक्षा: सर्वेऽपि सर्वमेत्रैव शोभत'' इति निर्णीतत्वाच्च। अत एवं विचारेऽपि न मार्गभेदानुपपत्ति:। न च पक्षद्वयमध्येऽन्यतरवैयर्थ्यं शङ्क्यम्। कल्पभेदेनोभयथापि सामञ्जस्यात्। तथाच पूर्वोक्तरीतिकेनेच्छामात्रेण निमित्तेन मनसा सहजासुरानसुरावेशिनो दैवांश्च सृष्टवान्। तथाच द्विधा प्रवाहोऽत्रोक्त: सहजासुरावेशिभेदेनेति ज्ञेयम्। अन्यत्स्पष्टम्। ननु ''तदिच्छामात्रतस्तस्माद्ब्रह्मभूतांशचेतना''इत्यादिना दैवसृष्टिर्निबन्धे इच्छामात्रत एव निरूपितेति कथं त्वया मनस्त उच्यते। उच्यते त्वभिप्रायज्ञानात्। तथाहि। निबन्धे यदिच्छामात्रेति पदं तदनुपहितस्य स्वतन्त्रस्य निर्गुणस्य कारणताबोधाय। अत्र तु यत्तत्पदं तदस्यां स्वसमवायिकारणताकत्वनिरासार्थम्। अत एव निबन्धे तत्र 'ब्रह्मभूतांशे'त्यादि जीवविशेषरमुक्तम्। अत्र तु नोक्तमित्येवं विनिगम्यते। न च तत्रत्यमेवात्रातिदेश्यम्। असुरसृष्टित्वात्। ''प्रवाहस्थान्प्रवक्ष्यामी''त्यादिना प्रावाहिकसृष्टेरासुरत्वनिर्धारणात्। तस्मादेवं सर्गभेदेन भूतभेदाद्देहादिवैलक्षण्यसिद्धे: साधनसाङ्कर्याभावान्न सर्गभेदनिरूपणवैयर्थ्यमिति मार्गाणामत्यन्तविवेक उपपन्न: प्रामाणिक एवेति भाव:।।८।।

ननूपादानभेदेऽपि निमित्तसाजात्ये कार्यं फलं च तुल्यमेव लोके दृष्टाम्। यथा सौवर्णराजतताम्रघटास्ततो जलाहरणं च। वेदेऽपि यथा व्रीहियवप्रकृतिपुरोडाशाभ्यां समानो यागोऽदृष्टं च। तद्वदत्रापि निमित्तसाजात्यादैक्याद्वा फलमेकमेव चेद्वयर्थ:

सृष्टिभेदमार्गभेदसाधनप्रयास इत्याशङ्कायामुपोद्घातसङ्गत्या फलनिमित्तयोर्भेदमाहु: मूलेच्छात इति।

मूलेच्छात: फलं लोके वेदोक्तं वैदिकेपि च।
कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकधा।।१०।।

'प्रजायेये'त्याकारिका मूलेच्छया। सिसृक्षयेति यावत्। तया कृत्वा फलं लोके भवति। न त्वलौकिकम्। ''अथैतयो: पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेति। अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति। धूमाद्रात्रिं रात्रेरपक्षीयमाणपक्ष''मित्यादिश्रुते:। ''एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते'' ''क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिष्वि''त्यादिस्मृतेश्च। न च त्रयीधर्मानुप्रपन्नत्वे कथमासुरत्वमिति शङ्क्यम्। दैवावेशेन तत्सम्भवात्। आसुरलक्षणेषु ''यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये'' ''यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वक''मित्युक्तत्वादिति। वैदिके मर्यादामार्गे वेदोक्तं स्वर्गमोक्षादिरूपं फलं भवति। ''ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ती''ति ''यन्न दु:खेन सम्भिन्न''मिति ''ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'' ''न स पुनरावर्तत'' इत्यादिश्रुते:। ''त्रैविद्या मा''मित्यादिस्मृतेश्च। अत्रापि ''एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषती''त्यादिश्रावितो उन्निनीषाधोनिनीषा च कारणत्वेनानुसन्धेया, अज्ञानरूपकार्यान्मुमोचयिषा चानुमातव्या। कायेन आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपेण फलं नानाविधं तल्लीलानुभवरूपं पुष्टौ भवति। तुना लौकिकवैदिकप्रकारशङ्का निरस्ता। तथाच यथा-यथा पुष्टिमार्गीया वाञ्छन्ति, तथा-तथा तानुरुध्य ददाति। न त्वीश्वरत्वेन। यथान्यत्र। अत एव प्रभुचरणैर्नवरत्नस्थ''निजेच्छात: करिष्यती''त्यस्य व्याख्याने ''निजानामिच्छात: स्वेच्छातश्चे''त्युभयथा व्याख्यातम्। ''गोपीभि: स्तोभितोऽनृत्यत्'' ''यां गोपीमनय''दित्यादौ स्पष्टं च तथा। अत्रापि ''गोपाये स्वात्मयोगेन'' ''सङ्कल्पसिद्धये तेषां कृपयैतदचिन्तयम्'' ''वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्र इत्यादिभिरनुमापितोक्ता चेच्छा कारणत्वेन बोध्या। एवञ्च यत्र धूममार्गीयसङ्कीर्णमन्यद्वा सङ्कीर्णं फलं तत्र तद्धेतुभूता सङ्कीर्णेच्छानुमातव्या। अत एवं भिन्नेच्छात: अपिशब्दात्फलभेदतश्च नैकधा सर्गा मार्गाश्च एकविधा नेत्यर्थ:। नैकतेति पाठे सर्गाणां मार्गाणां चैकता नेत्यर्थ:। एवमुत्पत्तिमारभ्यान्तं मार्गप्रवाहभेदात्प्रमेयबलेन मार्गत्रयभेद: साधित:। तेन प्रमीयमाणावस्थासम्बन्धिन: सन्देहा निवारिता:।।९।।

अत: परमनुष्ठीयमानावस्थासम्बन्धि: सन्देहान्परिहर्तुं मार्गसाधनीभूत जीवदेहक्रियाभिर्भेद: पूर्वप्रतिज्ञातो वक्तव्य:। तेषु जीवानां मुख्यत्वात् प्रथमं तद्भेदं वदिष्यन्त इच्छाभेदेऽपि जीवेषु वैलक्षण्याभावात्कथं फलभेद इत्याशङ्कामपि परिहरिष्यन्तश्चिद्रूपत्वाविशेषेपि तत्तदसाधारणधर्मभेदाज्जीवा भिद्यन्ते, तेन फलभेद इति हृदिकृत्य अत्यन्तविविक्तो धर्म: प्रावाहिकाणामेवेति प्रथमं तानाहु: तानहमित्यादि।

तानहं द्विषतो'' वाक्याद्भिन्ना जीवा: प्रवाहिण:।

अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशत:।।११।।

तथाच येषां भगवद्द्वेषोऽसाधारणधर्मस्तेन सार्वदिकोऽतिघोर: संसारस्ततोऽन्धतम:प्रवेश: पर्यवसाने ते प्रवाहिण:। भगवद्द्वेषश्च त्रिविध:। मूलरूपावतारूपद्वेषो विभूत्यादिद्वेषो जगद्रूपद्वेषश्च। तत्र मूलरूपावतारूपान्यतरद्विषो भगवन्तं पश्यन्त: कालं प्राप्य मुच्यन्ते इति ''मन्येऽसुरान् भागवता''नित्यत्र व्यवस्थापितम्। ''कामं क्रोध''मिति वाक्याच्च। ''तदेव रूपं दुरवापमाप'' ''लेभे गतिं धात्र्युचिता''मिति कंसपूतनयोर्मुक्त्युक्तेश्च। विभूतिद्विषस्तु द्वेषत्यागे क्रमेण शुध्यन्ति। ''अत्यागे धर्महीना: पतन्ति'' ''सम्मुह्यन्तु हरद्विष'' इत्यस्य निबन्धे शिवद्विषां तथा व्यवस्थापनात्समानन्यायेनान्यत्रापि युक्तिसिद्धत्वात्। एते उभयेऽप्यासुरावेशिन इत्यग्रे सेत्स्यति। जगदि्दषस्तु जायमाना अन्ततोऽन्धन्तम: प्रविशन्ति। इदमपि सुबोधिन्यां स्थापितम्। ''ये चान्धन्तम: प्रविशन्ति, ते केवला एव प्रविशन्ति, न तु प्राणादिसहिता'' इत्यपि धृतराष्ट्रं प्रत्यक्रूरवाक्ये ''अकृतार्थं प्रहिण्वन्ती''त्यस्य सुबोधिन्यां निर्णीतम्। आर्तभागब्राह्मणे मुक्तेरनुपक्रान्तत्वेन ''अत्रैव समवनीयन्ते'' ''स उ क्ष्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृत: शेत'' इति श्रुतेस्तादृशपरत्वस्य महता विचारेण व्यवस्थापनात्। इदमत्राग्रिमग्रन्थस्य त्रुटितत्वाद्यथाबुद्धि परबोधनायोक्तम्। प्रकृतमनुसराम:।

अत एव द्वेषिभेदादेव इतरौ मर्यादापुष्टिस्थौ जीवौ। जात्यभिप्रायेण द्विवचनम्। तेभ्यो विवेक्तौ। अत्रापि पूर्ववत्फलभेदमाहु: सान्तौ मोक्षप्रवेशत:। मोक्षोऽक्षरप्राप्ति:। प्रवेश: पुरुषोत्तमस्वरूपे। ''विशते तदनन्तर''मिति वाक्यात्। ताभ्यां सान्तौ पर्यवसाने निवृत्तजीवभावौ। प्रावाहिकास्तु ताभ्यां न तथेति त्रयोऽपि जीवा भिन्ना इत्यर्थ:। एवं चात्र मोक्षप्रवेशत इति कथनान्मर्यादिनामेव वेदोक्तमुक्तेरुक्तत्वाद्भगवति साधारणभावेन प्रमाणेऽभिनिवेशेन यथाविधि वेदोक्तकर्मज्ञानादिप्रवृत्तिपरत्वमेव तेषां लक्षणम्। अतस्तेऽपि भिन्ना इत्युन्नेयम्। इदं हि पुष्टिप्रकरणम्। अत: पुष्टिभेदनिरूपणाय

यावत्तत्स्वरूपनिरूपणमुपयुज्यते, तावत्क्रियते। विशिष्य तु तत्तत्प्रकरण एव निरूप्यमिति न दोष:। भगवत्प्रियत्वसाधकभक्तिमत्त्वं पुष्टिजीवानां लक्षणं तु पूर्वोक्तविचारादेव फलतीति न विशिष्योक्तम्।।१०।।

तस्माज्जीवा: पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशय:।

भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्।।१२।।

एवं लक्षणफलयोर्भेदेन यत्सिद्धं तदाहु: तस्मादिति। यस्मादेवं लक्षणभेदस्तस्मात्पुष्टिमार्गीया जीवा मार्गान्तरीयजीवेभ्यो भिन्ना एव। एतावता सर्वथा भेदसिद्धौ मेलने प्रकारान्तराम्भवादाहु: न संशय इति। यद्यपि ''काम: सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एवे''ति श्रुताविशब्देन प्रकारवाचिना द्वेषादय: सङ्ग्रहीतुं शक्या इति सोपाधिकानामेव भेद: समायाति, न केवलानाम्। न च जीवपदोक्तिविरोध:। ''एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत् षोडशविस्तृतम्। एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयत'' इति चतुर्थस्कन्धे नारदवाक्ये जीवपदस्य तादृशेऽपि प्रयोगात्। 'तानह'मिति गीतावाक्ये द्वेषादिधर्मोक्तेश्च। तथापि ''कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वा''दित्यधिकरणे उपादानसूत्रे बुद्धिसम्बन्धात्कर्तृत्वमिति निराकृत्य, जीवगतमेव कर्तृत्वं बुद्धिसम्बन्धादुद्गच्छतीत्याकरे व्यवस्थापितम्। तद्वदेते द्वेषसाधारणभावभक्तयोऽपि ज्ञेया:। अत एव फलवैजात्यम्, अन्धतमप्रवेशो मुक्ति: पुरुषोत्तमप्राप्तिरिति। पर्यवसितं फलं केवलस्यैवेत्यनुपदमेव व्युत्पादितम्। तदेतदुक्तं न संशय इति। ननु ''यदा यस्य'' ''यस्यानुग्रहम्'' ''यमेवैष वृणुत'' इत्यादिषु यच्छब्दस्य यदाशब्दस्य चोपबन्धात्कञ्चिदेव जीवं कस्मिंश्चित्काले भगवाननुगृह्णातीति सिध्यति। तेनानुगृहीत: पुष्टिमार्गे प्रविश्य पुष्टिजीवो भवतीति न जीवभेद:। न चानुग्रहविशिष्टस्य केवलापेक्षया भेदान्न दोष इति वाच्यम्। विशिष्टस्यानतिरिक्तत्वात्। देवदत्त: कुण्डलीतिवत्। विशेषणविशेष्यसम्बन्धस्यैव पर्यवसानतोऽतिरेक: सेत्स्यति, न जीवानामिति जीवभेदाङ्गीकारो व्यर्थ इति चेत्। न। प्रामाणिकत्वात् ''त्रया: प्राजापत्या देवा मनुष्या असुराश्चेति'' बृहदारण्यके श्रावणात्। पञ्चरात्रेऽपि ''उत्पन्नास्त्रिविधा जीवा देवदानवमानवा:। तत्र देवा मुक्तियोग्या मानुषेषूत्तमा अपि। मध्यमा मनुषा ये तु सृतियोग्या: पुन:-पुन:। अधमा निरयायैव दानवास्तु तमोलया'' इति कथनात्। नन्वत्र देहस्य देहविशिष्टस्य वा भेद उक्तो, न केवलस्येति चेत्। न। फलोक्त्या तन्निश्चयात्। केवलस्यैव पर्यवसितं फलमिति पूर्वमेव व्युत्पादितत्वात्। न च पञ्चरात्रस्याप्रामाण्यं शङ्क्यम्। भारते मोक्षधर्मे नारायणीये तत्प्रामाण्यस्य कण्ठत एवोक्तत्वात्। तर्कचरणेऽपि

विरुद्धांशमात्रानङ्कीकारेण शेषाभ्यनुज्ञानात्। जैमिनीयस्मृतिपादेऽपि स्मृतीनां तथैव प्रामाण्यसाधनात्। किञ्च। ''यदा यस्ये''त्यादिषु न तदैव पुष्टिजीवत्वमित्युच्यते, किन्तु साधनसपत्त्यान्यत्र वैराग्यमनर्थनिवृत्तिः स्वलाभश्च। अतोऽपि तथा। तस्माद्यदानुगृह्य ततः स्वस्वरूपे प्रवेश्य पुनः पुष्टिसृष्टावुत्यादयपि, तदा पुष्टिजीवत्वम्, न त्वनुग्रहमात्रात्। एतत्सर्वं बृहद्वामनीयसन्दर्भविचारे ''उक्तकालं समासाद्य गोप्यो भूत्वा हरिं गता'' इत्यत्र विद्वन्मण्डने स्पष्टम्। अत एव निबन्धेऽपि ''आदिमूर्तिः कृष्ण एव सेव्यः सायुज्यकाम्यये''त्युक्तम्। अन्यथा पूर्वमार्गसङ्कीर्णत्वानिवृत्तेः। न चैवमनुग्रहस्यानित्यत्वापत्तिः। फलबलेन प्रनाड्या अपि विचारितत्वनिश्चयात्। तस्मात्सुष्ठूक्तं भिन्ना एवेति। ननु भवत्वेवं जीवभेदः फलभेदश्च, तथापि गीतायां सर्गद्वयस्यैव कथनात्पुष्टिमार्गीयः सर्गोऽपि दैवसर्ग एव निवेशनीयः तथा सति दैव्या सम्पदा मोक्षः, अनुग्रहसाहचर्ये भक्त्या सायुज्यमिति फलविभागोगाऽपि सेत्स्यति तथा सति सर्गस्वभावात्साधनसाङ्कर्यमेव, न तु विवेक इत्याशङ्कायां तत्सर्गप्रयोजनमाहुः भगवदिति। भगवतो रूपस्य या सेवा, रूपेण स्वसौन्दर्येण वा या सेवा तदर्थं तत्सृष्टिः। नान्यथा भवेत्, एतत्सृष्टिकरणाभावे अधिकार्यभावाद्भवतो रूपसेवैव न भवेत्। तथा रूपसेवां चेन्न कारयितुमिच्छेत्तान्न सृजेत्। नामसेवाया दैवान्तरैरपि सम्भवात्। तथा तादृशरूपाभावे तत्कृता या रमणोपयुक्तसेवा सापि न भवेत्। इदं च प्रयोजनं ''स वै नैव रेम'' इति श्रुत्यैव सूचितम्। तथाच दैवत्वाविशेषेऽपि स्वसेवार्थं तेषामालोचितत्वादन्येषामन्यार्थमालोचितत्वात्स्वार्थपरार्थत्वाभ्यां दैवसर्गभेदः केन वार्यते। सिद्धे च तद्भेदे न साधनसाङ्कर्यगन्धोऽपि। तादृशसृष्टिश्च पूर्वमेव साधिता। ''स आत्मानंस्वयमकुरु''तेति श्रुत्युपन्यासेन। एवञ्चासुरेण प्रावाहिकेण सर्गेण विप्रकृष्टा क्रीडा। मार्यादिकेन परम्परिता। पुष्टिसर्गेण साक्षादित्युत्कर्षोऽपि फलितः। किञ्च। ''द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मि''न्नित्यत्राप्यास्मिंल्लोक इत्यनेन अमुक्तसम्बन्धी विधातृकृतो लोकः परामृश्यते। अन्यथैतद्वैयर्थ्यं स्यात्। तस्मात्तत्र द्वौ। तावता तदतिरिक्ते मुक्तसम्बन्धिनि तादृग्दैवसर्गस्य केन वारणम्। न च ''न स पुनरावर्तते'' ''अनावृत्तिः शब्दा''दिति श्रुतिन्यायविरोधात्पूर्वोक्तमुक्तसर्गोऽनुपपन्नः। ''सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दा''दित्यधिकरणे आकरे व्यवस्थापितत्वात्। तत्र हि ब्रह्मसम्पन्नानां ''सोऽश्नुते सर्वान् कामा''नित्युक्त आनन्दानुभवोऽन्तर्बहिर्वेति सन्दिह्य, ''न स पुनरावर्तत'' इति श्रुत्या पुनरिहागमननिषेधदिहागमनं विना च बहिरनुभवासम्भवादन्तरेवानुभव इति पूर्वपक्षे, सम्पद्य ब्रह्म प्राप्यापि स्वेन भगवतैवाविर्भावो बहिः प्राकट्यं तेषां भवति। यत उक्तश्रुत्युक्तः सर्वकामाशनरूपो भोगः स्वप्राधान्येन ब्रह्मणो विपश्चितो विविधचातुर्यवतः सहभावेन यः स बहिरेव

शक्य इत्यशनवाचकादश्नुत इति शब्दादेव निर्णीयते। शक्तेश्च व्यवस्थापकता पूर्वतन्त्र एव नामधेयपादे ''अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वा''दित्यधिकरणे निर्णीता। ''अञ्जलिना सक्तून् प्रदाव्ये जहुया''दिति होमे देवताप्रसादनादाविव संयुक्तहस्तद्वयस्याञ्जलेरशक्तत्वाद्धस्तयोर्विकासनं विना होमासम्भवाव्द्याकोश एवाञ्जलिः शक्तः। आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तेः सहकारित्वादिति। किञ्चोपकोशलविद्यायां ''एष देवपथो ब्रह्मपथः। एतेन प्रतिपाद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्त'' इत्यत्रेमं मानवमिति पदाभ्यां संसार एवानावृत्तिरुच्यते। अन्यथैतत्पदद्वयवैयर्थ्यं स्यात्। तेन ''न स पुनरावर्तत'' इति सामान्यशास्त्रमप्युपसंह्रियत इति न तस्यापि विरोध इति। एतमेव चार्थं ''मुक्ता अपि लीलाविग्रहं कृत्वा भजन्त'' इति वाक्यं ''न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां च विद्यते। विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुमनीषिण'' इति पाद्मवाक्यं चोपोद्बलयति। न चोक्तावाक्यानां जीवन्मुक्तपरत्वं शङ्क्यम्। जीवन्मुक्ते तादृशभोगानुपलब्धेः। मुख्ये सम्भवति गौणकल्पनस्याप्रयोजकत्वात्। उक्तवाक्यादिभिर्मुख्ये बाधाभावाच्च। एवञ्च ''ब्रह्मविदाप्नोति पर''मित्यत्रापि ज्ञानमुक्त्योर्व्याप्त्या एकोक्त्योभयप्राप्तेर्ब्रह्मवित्पदेन पुरुषोत्तमे प्राप्तसायुज्योऽपि शक्यवचनः। तथाच स तथा भवतीत्यर्थः। अयमेवार्थः ''अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ती''ति सूत्रेऽभिप्रेयते। स चास्मिन्नानन्दमये ब्रह्मणि अस्य प्राप्तसायुज्यस्य जीवस्य तद्योगं तत्स्वरूपस्य योगं शास्ति फलत्वेन श्रुतिर्वदतीति विद्वन्मण्डनोक्तदिशावगन्तव्यः। अस्य तद्योगं शास्तीत्येतावतैव चारितार्थ्ये यदस्मिन्निति पदं तस्यान्यथा वैयर्थ्यापत्तेः। इदं यथा तथानन्दमयाधिकरणस्य वर्णके स्वतन्त्रे प्रभुचरणैर्विशदीकृतम्। अतो जीवन्मुक्तव्यावृत्त्यर्थमेवास्मिन्निति पदम्। न हि जीवन्मुक्तस्याभेदात्मिका मुक्तिरस्ति। येन योग्यतानुभवस्य स्यात्। किन्तु ज्ञानाध्यासाभावयोः कारणकार्ययोर्भाविफलप्राप्तिज्ञापकयोः सत्त्वात्तथोच्यते। ज्ञानेन स्वरूपयोग्यतायां मुक्तिर्भगवता दीयत इति न ज्ञानमात्रसाध्या। ''भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति'' ''मोक्षमिच्छेज्जनार्दना''दित्यादिवाक्यैः। तथा सति चरमवृत्तिरूपमपि ज्ञानं स्वरूपयोग्यतासम्पादन एवोपक्षीयमाणं न फलोपहितां कारणतां स्वस्मिन्नवरोद्धुमीष्टे। अतो मुक्तिरपि भगवन्नियतैवेति सेवायै विचारितान् शुद्धान् विधायाविर्भावयतीत्यत्रापि न किञ्चिदनुपपन्नम्।

ननु भवत्वेवं सृष्टिभेदात्साधनसाङ्क्र्याभावः, तथापि लीलासृष्टावुत्पन्नानां स्वरूपदेहक्रियासु न कश्चिद्विशेषो दृश्यत इति साधितपूर्वः सृष्ट्यादिभेदोऽपार्थ एवेत्याशङ्कायां तत्परिहाराय विशेषमाहुः स्वरूपेत्यादि।

स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च।

तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा।।१३।।

तथापि यावता कार्यं तावत्तस्य करोति हि।

''स यथा सैन्धवधनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव'' ''आनन्दरूपममृतं यद्विभाती''त्यादिश्रुतिभिर्यथा भगवान् सच्चिदानन्दघनः, एवं तेऽप्यतिरोहितसच्चिदानन्दा इति न स्वरूपेण तारतम्यम्। यथा भगवतोऽलौकिकरीत्या सत्त्वाधिष्ठानेऽवतारः, एवं तेषामपीत्यवतारेणापि न तथा। यथा भगवतो ध्वजवज्रादीनि लिङ्गानि, एवं तेषामिति न लिङ्गेन तथा। यथा भगवत ऐश्वर्यादयः सौकुमार्यादयश्च तथा तेषामपीति गुणेनापि न तथा। इदमपि ''न प्रयोजनवत्त्वा''दिति सूत्रेण ब्रह्मण आप्तकामत्वश्रवणात्सृष्टिकरणं विरुद्धमित्याक्षिप्य, ''लोकवत्तु लीलाकैवल्य''मिति सूत्रेण पूर्वपक्षनिरासपूर्वकं लोके यथा ईश्वरो लीलां करोति, तत्र न तदतिरिक्तं प्रयोजनान्तरम्, तथात्रापीति समाधाय, लीलास्वरूपमाह कैवल्यमिति। स्वरूपानतिरिक्ता। तथाच समाधानोत्तरं स्वरूपकथनं सपरिकरायाः स्वरूपात्मकत्वज्ञापनाय। तेन 'अहिकुण्डल'सूत्रे वक्ष्यमाणान्न्यायाद्भगवानेव तावद्रूपस्तथा क्रीडतीति फलितम्। एतदेव आथर्वणे कृष्णोपनिषदि ''तस्मान्न भिन्ना एतास्तु आभिर्भिन्नो न वै विभुः। भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिन''मिति मन्त्रे परस्पराभेदकथनादुक्तम्। वाराहपुराणे च ''अन्यैव काचित्सा सृष्टिर्विधातृव्यतिरेकिणी''ति तस्या विधातृव्यतिरेकित्वकथनात्तदुपबृंहितम्। तथाचास्माद्विशेषान्न साधितपूर्वमपार्थतामापद्यत इत्यर्थः। ''लिङ्गेन च गुणेन चे''ति चकारद्वयेन यथा भगवल्लीलाश्रवणादिना कृतार्थता, तथैव तेषामपीति बोधितम्। तदपि गर्भस्तुतौ ''श्रृण्वन् गृण''न्नित्यस्य सुबोधिन्यां चकारसूचितार्थनिरूपणे भगवत्सम्बन्धिनामप्यन्येषां श्रवणादिकं फलसाधकमित्यनेनोक्तम्। तर्हि प्रत्यक्षस्य का गतिरित्यत आहुः तथापीत्यादि। यावता तारतम्येन। कार्यं तत्तत्प्रकारकविधित्सितलीलारूपम्। सिध्यतीति शेषः। तावत्तारतम्यं तस्य जीवस्य स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा करोति। हि यतो हेतोः। तथाच कार्यसाधनार्थेन तारतम्येन सर्वमेव सङ्गच्छते। तेन प्रत्यक्षं तावदंशे यथार्थमपि तु न तावत्त्वस्य नियामकम्। अतो न प्रत्यक्षशब्दयोर्विरोध इत्यर्थः। अयं च सार्धकारिकोक्तोऽर्थो ''हानौतूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवत्तदुक्त''मित्यत्र विचारितः। तेन यं जीवं मर्यादादिभ्यः पृथक्कृत्यानुग्रहेण पुष्टौ प्रवेशयति, तस्येयं व्यवस्था बोध्या।

तत्र हि ''निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती''त्याथर्वणिके श्रुतं साम्यं किमशेषधर्मैः, उत कतिपयधर्मैरिति सन्देहे, अत्र परमपदोक्त्या अशेषतद्धर्मैरिति पूर्वपक्षे, तुना पूर्वपक्षं निरस्य, हानौ भगवता सृष्ट्यर्थं जीवानां त्यागे विभाग इति यावत्, तस्मिन् कृते ये धर्मास्तिरोहिता ऐश्वर्यादयः, ते ब्रह्मसम्बन्ध आविर्भवन्ति। तैः साम्यमुपचर्यते। न तु सर्वथा साम्यम्। तत्र हेतुः। उपायनशब्दशेषत्वादिति। अत्र यत्साम्यमुच्यते, तदुपैतीत्युपायनशब्दशेषत्वेनोच्यते। तथा सति पूर्वं न स्थितमिदानीं प्राप्नोति। तेन परममुपेत्य साम्यमुपैतीति सिध्यति। तेन पूर्वोक्तमेव दृढीभवति। उचितं चैतत्। अन्यथा ''न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत'' इति श्रुतिर्विरुध्येत। तत्र दृष्टान्तः। कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवदिति। औदुम्बर्यः समिधः कुशाशब्देनाभिधीयन्ते। ता ज्योतिष्टोमादियागेषु प्रस्तोत्रा स्थाप्यन्ते। तत्र ''अभि त्वा शूर नोनुम'' इति ऋक्स्थानेऽच उपसंहृत्य भकारेण गानं क्रियते। तथा सति कुशानां, या छन्दसा स्तुतिस्तत्रोपगानकरणभूतो यो भकारस्तस्यर्ग्धर्मान्वयत्वेन यथा नर्ग्रूपता, तद्वदत्रापीत्यर्थः। ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यैरभेदो बोधितस्तस्य का गतिरित्यत्राह तदुक्तमिति। ''तदुणसारत्वात्तद्व्यपदेश'' इति सूत्र एवोक्तं गौण्योच्यत इति। इयं या मुक्तव्यवस्था सात्रानुगृहीते बोध्या। नित्यलीलास्थानां तूक्तैव पूर्वश्लोके। एतेन रसशास्त्रोक्तरीतिकलीलायां वैचित्र्यासम्भवे साम्यकृतरमणासम्भवे स्वरूपबहुत्वैकत्वकृतरमणासम्भवे सर्वेषामेकविधत्वेन कार्यान्तराम्भवादौ च ये सन्देहास्तत्प्रसङ्गानुप्रसङ्गपतिताश्च ते सर्वे सामान्येनापाकृता बोध्याः। ''परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः'' इति श्रुतेः ''यत्परोक्षप्रियो देवो भगवान् विष्णुरव्यय'' इत्यादिस्मृतेश्च रहस्यलीलास्थत्वान्न विशेषतो विव्रीयन्ते।

एवं स्वभावभेदादिसन्देहानपाकृत्य, केषाञ्चिद्भगवदुक्ते भक्तिमार्गे, केषाञ्चितादृश्ये ज्ञानमार्गे, केषाञ्चितादृश्ये कर्मणि, तत्रापि केषाञ्चित्स्वतः प्रवृत्तिराशक्तिश्च केषाञ्चिद्विधिबलात्, केषाञ्चित्स्वभावविरुद्धा देहादयः, इतरेषामनुकूला इत्यादीन् विशेषतो निराकर्तुं पुष्टिजीवान् विभजन्ते ते हि द्विधेति।

ते हि द्विधा शुद्धमिश्रभेदान्मिश्रास्त्रिधा पुनः।।१४।।

प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये।

ते पुष्टिजीवादयः हि यतो हेतोः भगवत्कार्यस्य लीलावैचित्र्यस्य सिद्ध्यर्थं शुद्धमिश्रभेदेन द्विप्रकाराः। मिश्राः पुनः प्रवाहमर्यादापुष्टीनां यो विभेदः विशिष्टः शुद्धादतिरिक्तः सङ्कीर्णो भेदस्तेन त्रिप्रकाराः प्रवाहमिश्रा मर्यादामिश्राः पुष्टिमिश्रा इति। तथाचैवंविधवैचित्र्यार्थादवान्तरभेदात्ते सन्देहा निवार्या इत्यर्थः।।१४।।

पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः।।१५।।

मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभाः।

कथं निवार्या इत्याशङ्कायां तदभिज्ञापकं रूपमाहुः पुष्ट्येत्यादि। अत्र पुष्ट्यादिशब्दैर्मार्गा उच्यन्ते। तत्र भक्तिज्ञानकर्मणां विजातीयसंवलितानां मार्गत्वं केवलत्वे भगवद्धर्मत्वमित्येकादशस्कन्धसुबोधिन्यां स्थितम्। पुष्टिशब्दवाच्योऽनुग्रहोऽपि फलबलात्केवलो मिश्रश्चावधार्यते। तत्र केवलो निःसाधनेष्वङ्गीकृतेषु। यथा गोकुलस्थेषु व्रजरत्नेषु सर्वथा प्रपन्नेषु च। ''अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण'' ''केवलेन हि भावेन'' ''मत्कामा रमणं जारम्'' ''सर्वधर्मान् परित्यज्य'' ''तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य नोदना''मिति वाक्येभ्यः। द्वितीय उक्तरीत्या त्रिविधः। उभावप्यवान्तरभेदैरनन्तविधावित्यपि ''तथापि यावते''त्यनेन सूचितमेव। एवं सति एते मामभिजानन्त्वित्यभिध्यापूर्विका या पुष्टिस्तया मिश्रा ये पुष्टावङ्गीकृतास्ते सर्वज्ञा यथा-तथा भगवत्स्वरूपज्ञातारो भवन्ति। तेन सर्वज्ञत्वं तदभिज्ञापकं लिङ्गम्। उदाहरणं तु नारदर्षभादयः। ज्ञानमिश्राः परमभक्ता इति यावत्। ''मुक्तानामपि सिद्धानां नारायण-परायणः। सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुन'' इत्यादिवाक्यानामेते विषयाः। मदुपाप्तादिपरा एते भवन्तित्यभिध्यापूर्वकेण प्रवाहेण मिश्रा ये पुष्टावङ्गीकृतास्ते क्रियारताः भगवदुक्तपञ्चरात्रादिप्रसिद्धकर्मपराः। प्रावाहिकभक्ता इति यावत्। तादृशक्रियापरत्वं तदभिज्ञापकम्। उदाहरणं श्रुतदेवनिमिप्रभृतयः। मद्गुणान् जानन्वित्यभिध्यापूर्विका या मर्यादा भगवदुक्तब्रह्मवादसरणिस्तया मिश्रा ये पुष्टावङ्गीकृतास्ते गुणज्ञा भगवत उत्पन्नानां गुणानां सत्त्वादीनां भगवदीयानां स्रष्टृत्वैश्वर्यादीनां ज्ञातारो भवन्तीति तदभिज्ञापकम्। मार्यादिकभक्ता इति यावत्। उदाहरणं भीष्मादयः। शुद्धास्तु प्रेम्णा उपलक्षिताः। निरुपधिप्रेमैव तेषामभिज्ञापकः ते अतिदुर्लभाः। तान् भगवान् कदापि न त्यजति। ''ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे'' ''विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरि''रित्यादिवाक्यानां विषयाः। निबन्धेऽपि ''एतादृशस्तु पुरुषः कोटिष्वपि सुदुर्लभः। यो दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम्। हित्वा कृष्णे परं भावं गतः प्रेमप्लुतः सदे''त्यनेनोक्ताः। न च ज्ञानिभक्तापेक्षया तेषां निकर्षः शङ्क्यः। ''अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानता''मित्यादिश्रुतिभिः स्वरूपावित्त्वेऽप्यत्युत्कर्षस्य सिद्धत्वात्। किञ्च। अतिदुर्लभा ब्रह्मादिदुरापचरणरेणवः। ''षष्टिवर्षसहस्राणी''ति बृहद्वामनपुराणवाक्यात्। अत्र येऽवान्तः रभेदास्ते फलबलादूह्याः। तथा ये निरुपधिप्रेमाणोऽपि विक्षिपन्ति

कदाचित्ते जीवाः शुद्धाः मनस्तेषां मिश्रम्। ये चैकमनसोऽपि देहेनाशक्ताः सेवितुं तेषां देहा मिश्राः। ये पुनस्तादृशाः समर्था अपि क्रियामन्यादृशीं विदधति, तेषां क्रिया मिश्रेत्याद्यप्यूह्यम्। भक्तिभेदा भक्तिहंसाद्भावभेदा जलभेदादवगन्तव्याः।।१५।।

एतेन साङ्कर्यदर्शनजाः सन्देहा निराकृता इत्याशयेन साधननिरूपणमुपसंहरन्ति **एवमिति।**

एवं सर्गस्तु तेषां हि फलमत्र निरूप्यते।।१६।।

भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद्भुवि।

गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत्।।१७।।

एवम्प्रकरकं सर्गभेदमनुसन्धाय ते सन्देहा निवारणीया इत्यर्थः। अतः परं शुद्धानामपि बाल्यादिभेदेन नानाविधं फलं दृश्यते। तत्कथम्। किञ्च। ''कायेन तु फलं पुष्टा'' वित्यत्र तृतीयानिर्देशात् किं स्वरूपातिरिक्तं फलमित्याद्याशङ्कानिरासाय च फलनिरूपणं प्रतिजानते फलमिति। तदाहुः भगवानेव हीति। ''यो वै भूमा तत्सुखम्'' ''पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गति''रित्यादिश्रुतेः। ''परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्य'' इति सूत्रे सेतुर्विधृतिः। ''यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषः'' ''प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः'' ''य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मय'' इत्यादिभिः सेत्वादिव्यपदेशैः फलान्तरसन्देहे, 'सामान्यात्त्वि''ति सूत्रेण संसारतरणसाधनत्वनिर्लेपत्वातिदुर्लभत्वदिव्यत्वाद्यर्थं ते धर्मा ब्रह्मण्युच्यन्ते। तावता तदतिरिक्तस्य फलस्य न सिद्धिरिति व्यवस्थापनाच्च भगवानेव फलम्। स्वर्गमोक्षादयस्तु मार्गान्तरे। तान्यपि ''एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती''ति श्रुतेर्भगवदानन्दांशभूतानि। मोक्षोऽप्यात्मसुखात्मा ब्रह्मानन्दात्मा च तथा। पुष्टिमार्गे तथा न, किन्तु मूलरूपो भगवानेव फलम्। तत्र प्रमाणभूतां युक्तिमाहुः हीति। मार्गभेदसाधनावसर उक्तैः प्रमाणैरैव तथा निश्चयादित्यर्थः। तृतीयानिर्देशस्तु फलस्य साधनासाध्यत्वबोधाय। अतो न विरोधः। तत्र विशेषमाहुः स इत्यादि। स भगवान् भुवि हृदयभूमौ लीलास्थाने वृन्दावनादौ च गुणस्वरूपभेदेन यदर्थं यथा आविर्भवेत्, तेषां तथा तादृशगुणस्वरूपभेदेन फलं भवेत्, फलरूपो भवेत्। तथाच यदर्थे यद्गुणरूपेणाविर्भवति नृसिंहरामवामनादिरूपेण, तेषां मुक्तावपि तेन रूपेण फलति। यदर्थं च बाल्यपौगण्डकिशोररूपेणाविर्भवति, तेषां मुक्तावपि तथैव फलति। तेन तदर्थकतथाविर्भाव एव तादृक्फलगमकः। ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्''। ''तद्भैतान् भूत्वावती''ती स्मृतिश्रुतिप्रमाणकश्च। तेन ''मन एव मनुष्याणां पूर्वरूपाणि संसति। भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यत''

इति न्यायेन यथा पूर्वं तद्भदि प्रकटीभूतः, तथैवाग्रे मुक्त्यनन्तरमपि पूर्ववदेव तेषु तां लीलामनुभावयतीति। तेन नित्यत्वमपि लीलायाः स्थापितम्। प्रपञ्चितमेतद्विद्वन्मण्डने लीलानित्यत्ववाद आकरे च। एवं फलतः पुष्टिमार्गस्यान्यमार्गसाङ्कर्यं निराकृतम्।

अतः परमवान्तरसाङ्कर्येण मिश्रेषु क्वचिच्छापो दृश्यते, स पुष्टिमार्गीयत्वात् ''तथा न ते माधव तावका'' इति वाक्यविरोधाच्चानुचितो निकर्षजनकश्चेत्याकाङ्क्षायां समादधते।

आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित्।

अहङ्कारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि।।१८।।

आसक्तावित्यादि। अन्यासक्तौ सत्यां भगवानेव शापं दापयति। यथा नलकूबरादेः। क्वचित् इति। यत्र तस्या औत्कट्यं तत्र। एवमहङ्कारे। यथा चित्रकेतुपरीक्षितोः। तथाच तद्दोषपरिहाराय भगवत्कृत एवायं तत्तद्द्वारको दण्डः। तेन न निकर्षजनकः। तर्हि यत्र नोभयं तत्र कथं शाप इन्द्रद्युम्नादौ। तत्र आहुः लोक इति आदि। यद्येवं न कुर्यात्, तदा लोके मर्यादादिमार्गा न तिष्ठेयुः। तथा सति लोकोच्छित्तिः स्यात्। अतो लोकसङ्ग्रहार्थं तथा करणम्। अत्र गमकम् आहुः हि इति। ''यद्यदाचरति श्रेष्ठ'' इति वाक्येन तथा निश्चयात् इति अर्थः। शापस्य भगवत्प्रयुक्तत्वं मौसले स्फुटम्। तेनान्यत्राप्यनुसन्धेयम्।।१८।।

न ते पाषण्डतां यान्ति न च रोगाद्युपद्रवाः।

महानुभावाः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे।।१९।।

भगवत्तारतम्येन तारतम्यं भजन्ति हि।

ननु गमकमन्तरेण तथानुसन्धानमशक्यमित्यत आहुः न ते इत्यादि। ते शापविषयाः पाषण्डतां न यान्ति। ये शप्तास्ते पुनरत्यन्तं भक्ता एव जाताः। अतो ज्ञेयं भगवतैवायं दण्डः कृत इति। ननु दण्डस्थले युक्तमेतत्, शेषे तु नायं समाधिरित्यतस्तत्राहुः न चेत्यादि। तेषामपि रोगाद्युपद्रवा न भवन्ति। प्रायेणा महानुभावा एव भवन्ति। महानुभावत्वाभावेऽपि रोगाद्यभावस्तु भवत्येव एतेनान्यार्थं भक्तदुःखदातृत्वदोषोऽपि निराकृतः। तथापि स्वल्पार्थमेतावत्करणं न कृपालोरुचितमित्यत आहुः शास्त्रमित्यादि। शिष्यते अनेनेति शास्त्रं शापदापनम्। तत् शुद्धत्वस्य हेतुर्निरूपधिरसात्मकं प्रेम तदर्थम्। यद्येवं न कुर्यात्, तदा मार्गान्तरमिश्रत्वनिवृत्यभावाच्छुद्धपुष्टत्वं न भवेत्। तथाच तत्रापि फलोन्मुखा कृपैव बीजम्, अतो न भगवति दोषलेशोऽपि इति अर्थः। ननु युक्तमेतत्, तथापि येषां शुद्धत्वं चिकीर्षितं ते मिश्रेष्वप्यत्युत्कृष्टा एव वाच्याः,

तथा सति तेषां कथमीदृशो भावः। न हि तादृशेषु कर्म प्रारब्धादिरूपं प्रभवति, न वा ते ज्ञात्वा अवजानन्ति इति सन्देहे, तेषामेवम्भावे बीजम् आहुः भगवत् इतित्यादि। ''यदेकमव्यक्तमनन्तरूपम्'' इति श्रुत्या भगवाननन्तरूपः। ''अथर्वशिरःशिखाध्यायिशतमेकमेकेन मन्त्रराजजापकेन तत्समं विश्वो वैश्वानरः प्रथमः पाद'' इत्यादिश्रुतिभिर्व्यूहादिबोधकस्मृतिभिश्च तेषु तरतमभावयुक्तश्च। एवं सति प्रकारान्तरेणापकर्षाभावे तत्क्रतुन्यायेनोपास्यतारतम्यप्रयुक्तं तारतम्यं केन वार्येत। एवं तारतम्ये उत्कृष्टानामप्येवम्भावो न दुर्घटः। अत एव सङ्कर्षणोपासकस्य चित्रकेतोः सङ्कर्षणचरणे मनोनिवेशो वृत्रेन्द्रयुद्धे। निर्विशेषोपासकस्येन्द्रद्युम्नस्य गजेन्द्रत्वेऽपि निर्विशेषोपवर्णनम्। तदेतदुक्तं हि इति। तथाच तन्निवृत्त्यर्थमेवङ्करणम् इति अर्थः।।१९।।

एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य इदानीन्तनेषु पुष्टिजीवत्वज्ञापकं लक्षणं वदन्तः प्रसङ्गात्सर्वेषाम् आहुः।

वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा।।२०।।

वैष्णवत्वं हि सहजं ततोऽन्यत्र विपर्ययः।

वैदिकत्वम् इतित्यादि। कापट्यमन्तर्बहिर्विसंवादः। स च स्वभावस्य गोपनाय तत्तत्प्रकाशम् इतित्यकः, स्वस्य प्रयोजनाभावेऽपि तत्करणम् इति अपर इति उभयविधात्कापट्यात्तेषु वैदिकत्वं लौकिकत्वम्। सहजं तु वैष्णवत्वं भगवदाज्ञाकारित्वम्। ततः वैष्णवादन्यत्र विपर्ययः। एकत्र वैदिकत्वमितरत्र लौकिकत्वं सहजम्। तदतिरिक्तत्वं कापट्यात् इति। तेन-तेन लक्षणेन ते-ते बोध्या इति अर्थः। एवञ्च तेषां फलं भगवत्तारतम्येनेत्युक्तरीत्या तत्क्रतुन्यायेन भावनानुरूपं भवति। तत्राप्येतन्मार्गीयाणां भगवतो व्रजपतेरेव भावनेति व्रज एव सेवौपयिकदेहप्राप्तिर्भवति। परं तत्कृतसेवानुरूपा। सेवाफलग्रन्थे तथैव सिद्धत्वात् इति।।२०।।

सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास्तथापरे।।२१।।

चर्षणीशब्दवाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु।

क्षणात् सर्वत्वमायान्ति रुचिस्तेषां न कुत्रचित्।।२२।।

तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र सकलं फलम्।

ननु यदि त्रिविधा एव जीवास्तर्हि कथं केचन सर्वत्र तुल्यदर्शनाः सर्वाभिनिविष्टा दृश्यन्ते, तत्र आहुः **सम्बन्धिन** इति। तुशब्दस्त्रैविध्यपक्षं व्यावर्तयति। ये जीवाः

सम्बन्धिनः उक्तत्रिविधमार्गसम्बन्धभाजः तथा अपरे इतोऽपि हीनाः प्रवाहस्थाः, ते चर्षणीशब्दवाच्याः। ''चृषि प्रजननैश्ययो''रिति धात्वर्थात्प्रजननस्वातन्त्र्याभ्यां युक्ताः। तेन तद्योग्यत्वाच्चर्षणीभिः परिभ्रमणशीलाभिः शक्तिभिर्व्याप्तास्तच्छब्देनै वोच्यन्ते। तदभिज्ञापकम् आहुः ते सर्व इत्यादिपादत्रयेण। तेषां फलम् आहुः तेषाम् इति। तथाच पञ्चरात्रे मध्यमा अधमाश्च ये मानुषा उक्तास्त एते। अत एव ''संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात्'' इति सूत्रेण यमनियता तेषां गतिर्विचारिता। ''वैवस्वते विविच्यन्ते यमे राजनि ते जनाः। ये चेह सत्येनेच्छन्ते य उ चानृतवादिन'' इति। अतस्तेषां यथाकर्म सकलं कला खण्डस्तत्सहितं खण्डितं फलं सर्वत्र भवति। तथा तदनुभवन्तः सम्बन्धिनः संसरन्त्येव। सृतियोग्यत्वात्। प्रवाहस्थास्तु तथाभूता निरयिणो अग्रे भवन्ति इति अर्थः।।२२।।

एवमत्रानुप्रसङ्गपतितं सर्वमुक्त्वा क्रमप्राप्तं प्रवाहभेदं वदिष्यन्तो व्यावर्तकधर्मैः प्रवाहेण च स्वरूपभेदस्य सिद्धत्वात्साधनादिभेदं वक्तुं प्रावाहिकजीवदेहक्रियाभेदनिरूपणं प्रतिजानते **प्रवाहस्थानिति।**

प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतान्।।२३।।

जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे ''प्रवृत्तिं चे''ति वर्णिताः।

तेषां स्वरूपं लक्षणम् आहुः जीवास्ते इत्यादि। ''प्रवृत्तिं चे''ति सन्दर्भे नानालक्षणानामुक्तत्वादेकस्मिंस्तावतामदर्शनात्प्रत्येकं यत्किञ्चिल्लक्षणवन्तोऽपि त एवेति ज्ञापनाय सर्वे इति उक्तम्।।२३।।

ननु केचन पूर्वं तल्लक्षणवत्तया निश्चिता अपि पश्चाद्व्यभिचरन्तो दृश्यन्ते लोके स्मृतौ चेति लक्षणमव्यापकमित्यतस्तान् विभजन्ते ते च द्विधेत्यादि।

ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्याज्ञदुर्ज्ञविभेदतः।।२४।।

दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता ह्याज्ञास्तननु ये पुनः।

तानु तदनुसारिण एव। न तु तादृशाः। ते अज्ञाः। एत एवाग्रे भगवता हता मुच्यन्ते। क्वचिद्द्वेषत्यागेऽपि मुच्यन्ते। अतो हेत्वन्तरेणाज्ञाने गते स्वां प्रकृतिं भजन्त इति न ते लक्ष्याः। अतो लक्षणमदुष्टम् इति अर्थः।।२४ १/२।।

ननु सर्गभेदे प्रावाहिक आसुरः सर्गो जघन्य उक्तः। तेन तदङ्गक्रिया दुष्टा इति सिद्धम्। तथा सति तत्र प्रवेशस्तादृशामेवोचितो, नेतरेषाम्। ततस्ते हन्तव्या एव स्युः, नानुग्राह्याः। दृश्यते तु विपरीतं बलिप्रह्लादादिषु तथा बाणादिषु क्रियाविरोधोऽपि इति अत आहुः।

प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थस्तैर्न युज्यते।।२५।।

सोपि तैस्तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः।।२५ १/२।।

प्रवाहेऽपि इति। प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिमार्गीयः तेन समागमनेन कृत्वा युज्यते, तैः आसुरधर्मैः। तत्र हेतुः। यतः कर्मणा तादृशेन तत्कुले जातः। अतस्तथेत्यर्थः। तथाच तत्कर्मवासनया तादृक्क्रियाकरणेऽपि जीवस्य पुष्टिस्थत्वाद्भगवता तत्कर्म निवार्य फलं दीयते यथाजामिलस्य अतो न दोष इति भावः। कर्म च भगवदपराधो भक्तापराधो वेदनिन्दा अधर्मकरणं वेत्यादिकम्। तच्च ''अत्रापि वेदनिन्दायामधर्मकरणात्तथा। नरके न भवेत्पातः किन्तु हीनेषु जायत'' इति निबन्धोक्तमार्गेणोह्यम्। एवं बलिप्रह्लादादिषु दुष्टकर्मणः स्वल्पताप्यूह्या। तेन न दोषः। एतदग्रे आधुनिकादृष्टवशाद्ग्रन्थो न मिलति इति नोपक्रमोपसंहारैक्याभावदोषः। एतदग्रे प्रवाहमार्गीयप्रयोजनसाधनाङ्गक्रियाफलानि मर्यादामार्गीयप्रयोजनस्वरूपाङ्गक्रियाः साधनं फलं च यावता ज्ञायते, तावान् ग्रन्थो अपेक्षित इति ज्ञेयम्।।२५ १/२।।

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जनखेन्दुना।

शोभितास्तारका यास्ताः स्वबुद्ध्या विशदीकृताः।।१।।

निपुणं विभाव्य सततं विलसद्रससिन्धुचन्द्रमुखवागमृतम्।

विवृतं मयास्य कृतमेतदहो सरहस्यमस्ति विबुधैकसुखम्।।२।।

इति श्रीवल्लभनन्दनचरणरेणवेकतानश्रीयदुपतितनयपीताम्बरविरचितं पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवरणं समाप्तम्।